रजिस्ट्रेशन नं. RAJSAN/2015/61410

स्वाध्याय शिक्षा

(प्राकृत, संस्कृत एवं हिन्दी भाषा में शास्त्रीय ज्ञानवृद्धि की प्रेरक पुस्तक)

आगम अनुप्रेक्षा–आचाराङ्गसूत्र अंक

प्रकाशक
श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ, जोधपुर

स्वाध्याय शिक्षा

(प्राकृत, संस्कृत एवं हिन्दी भाषा में शास्त्रीय ज्ञानवृद्धि की प्रेरक पुस्तक)

वर्ष-36 अंक-5 15 सितम्बर, 2021

प्रधान सम्पादक

प्रकाशचन्द जैन

कार्यकारी सम्पादक

त्रिलोकचन्द जैन

जिनेन्द्र कुमार जैन

सम्पादकीय सम्पर्क सूत्र

आध्यात्मिक शिक्षा समिति

ए-9, महावीर उद्यान पथ, बजाज नगर, जयपुर-302015

फोन 0141-2711910, 7045747164, 9694430826, 9887268051

Email : assjaipur108@gmail.com

प्रकाशक

श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ

(संचालक-गजेन्द्र निधि)

सामायिक स्वाध्याय भवन, प्लॉट नं. 2, नेहरू पार्क, जोधपुर-342001

फोन 0291-2624891

Email : swadhyaysanghjodhpur@gmail.com

शुल्क/साभार का चैक/डी.डी./नेफ्ट/नकद राशि **'श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ'** बैंक खाता संख्या **PNB** 00592010003010 **IFSCC Code** PUNB0005910 में जमा कराकर जमापर्ची (काउण्टर-प्रति) को प्रकाशक पते पर भिजवावें।

इस प्रति का मूल्य : 10/- आजीवन सदस्यता शुल्क 20 वर्ष : 1000/-

सृजन संचयन श्रुत संवर्धन, सत्साहित्य समीक्षा।
संयम शील संस्कार प्रेरणा, हित स्वाध्याय शिक्षा।।

नोट :-यह आवश्यक नहीं कि लेखकों के विचारों से सम्पादक मण्डल की सहमति हो।

विषयानुक्रमणिका

आगम अनुप्रेक्षा–आचाराङ्गसूत्र अंक

सम्पादकीय

अध्यात्म का खजाना है आचाराङ्ग :प्रकाशचन्द जैन 3

प्राकृत खण्ड

प्राकृत व्याकरण (प्रेरणार्थक) : श्री राकेश कुमार जैन 8

उसहनाहचरियं (10) : कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य 10

संस्कृत खण्ड

हरिश्चन्द्रचरित्रम् : संकलित 14

भाविआचार्यप्रवराय नमो नम: : सम्पादक 18

हिन्दी खण्ड

साधना के सूत्रों से सम्पृक्त है आचाराङ्गसूत्र : आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्रजी म.सा. 20

आगम अनुप्रेक्षा–एक शब्द–परिक्रमा : उपाध्याय श्री रमेशमुनिजी शास्त्री 23

आचार का शास्त्र : आचाराङ्गसूत्र : श्रद्धेय श्री प्रमोदमुनिजी म.सा. 29

आचाराङ्गसूत्र में संयम : डॉ. विनोद कुमार जैन 37

क्या आप जानते हैं? (आचाराङ्गसूत्र महिमा) : श्री धर्मचन्द जैन (रजिस्ट्रार) 40

आचाराङ्गसूत्र में अहिंसा : श्री पदमचन्द गाँधी 44

आचाराङ्गसूत्र में मुनिचर्या : श्रीमती अरुणा कर्णावट 49

आचाराङ्गसूत्र कहे कामभोग दु:ख की खान है : श्रीमती लीलाबाई सालेचा 55

आचाराङ्गसूत्र में लोक–विजय के उपाय : श्रीमती शर्मिला खिंवसरा 57

आचाराङ्गसूत्र में हिंसा–अहिंसा का विवेक : डॉ. आभा किरण गाँधी 61

आचाराङ्गसूत्र में पर्यावरण सुरक्षा : श्री अलंकार जैन 64

आदर्श जीवन–पद्धति : आचाराङ्गसूत्र के परिप्रेक्ष्य में : त्रिलोकचन्द जैन 68

बनें बहुश्रुत स्वाध्यायी (20) : सम्पादक 76

समाचार एवं साभार : संकलित 77

सम्पादकीय

अध्यात्म का खजाना है आचाराङ्गसूत्र

-प्रकाशचन्द जैन

अध्यात्म का स्वरूप

उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने अध्यात्म सार ग्रन्थ में अध्यात्म का स्वरूप बताते हुए कहा है-

गतमोहाधिकाराणामात्मानमधिकृत्य या।
प्रवर्तते क्रिया शुद्धा तदाध्यात्मं जगुर्जिना:।।

मोह का आधिपत्य समाप्त होने पर स्वयं को आत्म-केन्द्रित करके शुद्ध क्रिया होती है, उस क्रिया को जिनेश्वर भगवन्तों ने अध्यात्म कहा है। यहाँ अध्यात्म की तीन शर्तें बताई गई हैं-(1) क्रिया का मोहभाव से रहित होना (2) क्रिया का शुद्ध होना अर्थात् राग-द्वेष से प्रेरित नहीं होना (3) क्रिया का आत्म केन्द्रित होना। देहभाव से दूर रहकर आत्म-स्वरूप को लक्ष्य बनाकर की गई शुद्ध क्रिया ही अध्यात्म कहलाती है।

आगमों में अध्यात्म के सूत्र यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं, एक स्थान पर उनका क्रमबद्ध वर्णन दिखाई नहीं देता। सबसे अधिक अध्यात्म सूत्रों का वर्णन आचाराङ्गसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध में दिखाई देता है। इसके तो आरम्भ के सूत्र ही-**'केऽहं आसी, के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि।'** अध्यात्म की चर्या कर रहे हैं। मैं कौन था, यहाँ से निकलकर परभव में क्या होऊँगा? ये सूत्र आत्मा की अमरता के द्योतक हैं। मैं पूर्व में था, अभी हूँ और आगे भी रहूँगा। तभी तो यह प्रश्न उठा है कि मैं पूर्व में कौन था और आगे किस पर्याय को प्राप्त करूँगा। द्रव्य की अपेक्षा आत्मा शाश्वत है पर्याय की अपेक्षा अशाश्वत व परिवर्तनशील है, इस सत्य का उद्घाटन करना इस सूत्र का प्रयोजन प्रतीत होता है।

'नेव सयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा, नेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा। जे लोगं अब्भाइक्खेइ, से अत्ताणं अब्भाइक्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ, से लोगं

अब्भाइक्खइ।' अर्थात् न स्वयं लोक का अपलाप करे, न आत्मा का अपलाप करे। जो लोक का अपलाप करता है, वह आत्मा का अपलाप करता है तथा जो आत्मा का अपलाप करता है, वह लोक का अपलाप करता है। इसका आशय यह है कि जो लोक अर्थात् पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक के जीवों का अपलाप करता है, वह अपनी आत्मा का अपलाप करता है। तथा जो अपनी आत्मा का अपलाप करता है, वह पृथ्वीकायादि जीवों का अपलाप करता है अर्थात् उनके अस्तित्व को नकारता है। द्रव्य की दृष्टि से विचार करें तो सभी आत्माएँ एक समान हैं। मेरी आत्मा और अन्य आत्माओं में कोई अन्तर नहीं है। यदि मैं अपनी आत्मा के शाश्वत स्वरूप को स्वीकार नहीं करता हूँ तो अन्य के स्वरूप को कैसे स्वीकार करूँगा? और यदि मैं अन्य जीवों के शाश्वत स्वरूप को स्वीकार नहीं करता हूँ तो अपने स्वरूप को कैसे स्वीकार करूँगा? अत: यह सूत्र हमें प्रेरणा प्रदान कर रहा है कि हम जीवों के तथा अपनी आत्मा के यथार्थ स्वरूप को समझें। यह समझ ही हमें हिंसा आदि पापों से दूर रखेगी और हम परिज्ञात कर्मा बन सकेंगे।

जे अज्झत्थं जाणइ, से बहिया जाणइ।
जे बहिया जाणइ, से अज्झत्थं जाणइ।।

गत प्रत्यागत शैली में प्रस्तुत यह सूत्र कह रहा है कि जो साधक आत्मा को जानता है, वह ही बाह्य अर्थात् आत्मा के सिवाय द्रव्यों को जानता है और जो बाह्य द्रव्यों को जानता है, वही आत्मा को जानता है। इसका फलितार्थ यह है कि जिसने अपनी आत्मा को द्रव्य, गुण, पर्याय से अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप से समझ लिया है वही साधक आत्मेतर द्रव्यों को अर्थात् अजीव द्रव्यों को यथार्थ रूप से जान सकता है कि ये जड़ हैं, ये आत्मा से भिन्न हैं। इसलिए इन पर ममत्व करना या इनमें अपनेपन की बुद्धि रखना कदापि उचित नहीं है। यह समझ उसे आत्मशुद्धि की साधना में आगे बढ़ा देती है।

जे अणण्णदंसी, से अणण्णारामे, जे अणण्णारामे, से अणण्णदंसी।।

जो अनन्य अर्थात् स्वयं (आत्मा) को देखता है, वह स्वयं में ही आराम (रमण) करता है तथा जो स्वयं में ही आराम करता है, वही स्वयं को देखता है।

जस्सिमे सद्दा य रूवा य गंधा य रसा य फासा य अभिसमन्नागया

भवंति, से आयवं, नाणवं, वेदवं, धम्मवं, बंभवं। जिसे ये शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श अधिगत होते हैं वह आत्मवान, ज्ञानवान, वेदविद्, धर्मविद् तथा ब्रह्मविद् होता है। अर्थात् जो पुद्गल (अजीव) के स्वरूप को पूरी तरह जानता है, वही आत्मा के स्वरूप को पूरी तरह जान सकता है। दशवैकालिकसूत्र भी इसी की पुष्टि करता है।

जो जीवे वि वियाणेइ, अजीवे वि वियाणेइ।
जीवाजीवे वियाणंतो, सो हु नाहिइ संजमं।।4/13

जीव के स्वरूप को तथा अजीव के स्वरूप को तथा दोनों के स्वरूप को जानने वाला ही संयम को जानता है।

आत्मा को जानने वाला ही ज्ञानवान होता है तथा ज्ञानवान ही आगमज्ञ कहलाता है उसे ही धर्म को जानने वाला तथा ब्रह्म (परमात्मा) को जानने वाला माना जाता है अत: पहले जीव, अजीव के स्वरूप को उनके गुणों से, लक्षणों से जानना चाहिए।

'असइं उच्चागोए, असइं नीयागोए। नो हीणे, नो अइरित्ते, नो पीहइ। तम्हा पंडिए हरिसे, नो कुप्पे।'

यह जीव इस संसार में अनादिकाल से परिभ्रमण कर रहा है, कभी उच्चगोत्र में जन्म लेता है तो कभी नीच गोत्र में जन्मता है अत: किसी को भी हीन या उच्च नहीं मानना चाहिए और न ही भोगों की इच्छा करनी चाहिए। इसी तथ्य को समझने वाला पण्डित न किसी पर प्रसन्न होता है न किसी पर कुपित होता है। अनादिकालीन यात्रा में जीव कितने ही स्वांग करता है फिर किसी भी स्थिति में क्या राग करना, क्या द्वेष करना। पण्डित पुरुष इनसे ऊपर उठकर समत्व का जीवन जीता है।

इणमेव नावबुज्झंति, जे जणा मोहपाउडा। मोह से आवृत्त बुद्धि वाले लोग उपरोक्त तथ्य को नहीं समझते। वे तो इन पर्यायों को ही अपना वास्तविक रूप समझने लगते हैं और राग-द्वेष में ही अपना अनमोल जीवन पूरा कर देते हैं। क्षणमात्र सुख देने वाले कामभोग ही उनके लिए आकर्षण का केन्द्र होते हैं। **थीभि लोए पव्वहिए।** स्त्रियों से ये लोग व्यथित रहते हैं। उन्हीं से सुख की इच्छा में पूरा जीवन बर्बाद कर देते हैं। अत: आचाराङ्ग कहता है-**कामा दुरइक्कमा, जीवियं**

दुप्पडिबूहगं, कामकामी खलु अयं पुरिसे से सोयइ। कामभोग दुस्त्याज्य हैं, जीवन को बढ़ाया नहीं जा सकता, यह जीव कामभोगों की कामना करने वाला है, कामभोगों से छूटने पर वह शोक करता है, दु:खी होता है, पीड़ित होता है और परिताप को प्राप्त करता है। अत: कामभोगों को छोड़ने में ही समझदारी है।

लाभोत्ति न मज्जेज्जा, अलाभोत्ति न सोयए, बहुंपि लद्धुं न निहे। किसी भी प्रकार का लाभ प्राप्त होने पर मद-अहंकार नहीं करना चाहिए। लाभ नहीं होने की स्थिति में शोक न करे और यदि बहुत प्राप्त हो जाय तो भी उसे पुण्य का फल मानकर उसमें आसक्त न बने, यही समत्व का मार्ग है।

से हु दिट्ठपट्ठे मुणी, जस्स नत्थि ममाइयं। वह ही मुनि मोक्षमार्ग को देखता है जिसके अन्तर में ममत्व बुद्धि नहीं होती। तथा ममत्व को वही त्यागता है, जो ममत्व की बुद्धि को त्यागता है। वस्तुओं का संग्रह करना ममत्व तथा उनमें अपनापन रखना ममत्व बुद्धि है। ममत्व बुद्धि को छोड़ना ही वास्तव में मोक्ष का मार्ग है।

पुरिसा! तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि?

हे पुरुष! तुम ही तुम्हारे मित्र हो, बाहर के मित्रों की क्यों इच्छा करते हो। अर्थात् तुम्हारे अन्दर रहने वाले ज्ञान, दर्शन आदि गुण ही तुम्हारे सच्चे मित्र हैं, जो कभी अलग नहीं होते, उन्हीं के साथ रहो, उन्हीं में रमण करो। ये मोह, ममत्व आदि बाहरी मित्र हैं जो कभी भी छूट सकते हैं, इनकी क्यों इच्छा करते हो।

पुरिसा! सच्चमेव समभिजाणाहि, सच्चस्स आणाए उवट्ठिए से मेहावी मारं तरइ।।

हे पुरुष! तुम सत्य को ही अच्छा समझो। सत्य की आज्ञा में उपस्थित रहने वाला मेधावी मृत्यु के पार चले जाता है, अर्थात् अमरता को (मोक्ष) प्राप्त कर लेता है। सत्य अर्थात् सत् स्वरूप वाला आत्मा।

बन्धपमोक्ख तुज्झ अज्झत्थेव।

बन्ध और मोक्ष तेरे अन्दर ही है। अर्थात् तुम अपने आत्म-परिणामों से ही कर्मों से बँधते हो तथा परिणामों से ही मुक्त होते हो, वे दोनों तरह के परिणाम तुम्हारे भीतर ही हैं। **परिणामे बन्धो, परिणामे मोक्खो।**

कहा भी है-**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:।** मन ही मनुष्यों के

बन्ध तथा मोक्ष का कारण है। अत: अपने अन्तर को शुद्ध बनाओ।

जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया। जेण वियाणइ से आया।

जो आत्मा है वही विज्ञाता है तथा जो विज्ञाता है, वही आत्मा है। जिससे जाना जाता है, वह आत्मा है। आत्मा और ज्ञान दोनों का परस्पर गुण-गुणी का सम्बन्ध है। बिना ज्ञान के आत्मा नहीं रहती और ज्ञान आत्मा के बिना अन्यत्र नहीं रहता। अत: ज्ञानाराधना से अन्तर आत्मा को पुष्ट करते हुए विशुद्धि बढ़ाने का प्रयास करना चाहिए।

आचाराङ्ग में सिद्ध परमात्मा के स्वरूप का विस्तार से वर्णन हुआ है-

सव्वे सरा नियट्टंति--। से न दीहे, न हस्से--। उवमा न विज्जए, अरूवी सत्ता।

जिसका वर्णन करने में सारे स्वर मौन हैं, जो बुद्धिगम्य नहीं है। जिसमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श कुछ भी नहीं हैं, जो न स्त्री है, न पुरुष है। जिसे कोई उपमा नहीं दी जा सकती, अरूपी सत्ता मात्र है। यही शुद्धात्मा का स्वरूप है, जो सिद्धावस्था में पूर्ण प्रकट होता है।

इस प्रकार आचाराङ्ग को अध्यात्म का खजाना कहा जा सकता है।

◆

स्वाध्यायियों और लेखकों से निवेदन...

विद्वान् विचारक, लेखक एवं स्वाध्यायी पाठकों की ज्ञानवृद्धि करने वाली, सम्यक् आचार की प्रेरणा देने वाली रोचक एवं प्रामाणिक रचनाएँ भेजेंगे तो हम उत्साहित होकर '**स्वाध्याय शिक्षा**' का स्वरूप निरन्तर निखारते-सँवारते रहेंगे।

आगामी अङ्क '**आगम अनुप्रेक्षा-सूत्रकृताङ्गसूत्र**' से सम्बन्धित सामग्री से परिपूर्ण होगा। इस हेतु आपके लेख हमें प्रेषित करने की कृपा करावें, यही विनम्र अनुरोध है। **-सम्पादक**

प्राकृत-खण्ड

प्राकृत व्याकरण

-श्री राकेश कुमार जैन, जयपुर

(प्रेरणार्थक प्रयोग)

प्रेरणार्थक विधि कृदन्त-

मूल क्रिया में प्रेरणार्थक प्रत्यय 'आवि' जोड़ने के पश्चात् कृदन्त सूचक 'अव्व/तव्व/दव्व/अणिज्ज/अणीय' प्रत्यय जोड़कर विधि कृदन्त बनाये जाते हैं। इनका प्रयोग क्रिया एवं विशेषण रूप में किया जाता है। कृदन्त प्रत्यय लगते इनके रूप पुल्लिङ्ग में 'देव', स्त्रीलिङ्ग में 'माया' तथा नपुंसकलिङ्ग में 'फल' के समान चलते हैं। जैसे-

क्रिया	प्रेरणा.प्रत्यय	विधि.कृदन्त प्रत्यय	प्रेरणा.विधि. कृदन्त रूप	अर्थ
हस	(1) आवि	अव्व/तव्व/दव्व	हसाविअव्व/हसावितव्व/ हसाविदव्व	हँसाया जाना चाहिए।
	(2) आव	अणिज्ज/अणीय	हसावणिज्ज/हसावणीय	
कर	(1) आवि	अव्व/तव्व/दव्व	कराविअव्व/करावितव्व/ करावितव्व	कराया जाना चाहिए।
	(2) आव	अणिज्ज/अणीय	करावणिज्ज/करावणीय	
णच्च	(1) आवि	अव्व/तव्व/दव्व	णच्चाविअव्व/णच्चावितव्व/ णच्चाविदव्व	नचाया जाना चाहिए।
	(2) आव	अणिज्ज/अणीय	णच्चावणिज्ज/णच्चावणीय	

वाक्य प्रयोग-

1. राजा के द्वारा मन्त्री बुलवाया जाना चाहिए-**नरिंदेण मंती कोक्काविअव्वो/कोक्कावणीयो/कोक्कावणिज्जो।**
2. तुम्हारे द्वारा वह हँसवाया जाना चाहिए-**तुमए सो हसाविअव्वो/हसावणीयो/हसावणिज्जो।**
3. गुरु द्वारा शिक्षा फैलायी जानी चाहिए-**गुरुणा सिक्खा पसराविअव्वो/पसरावणीयो/पसरावणिज्जो।**

4. योगी द्वारा ध्यान करवाया जाना चाहिए-**जोगिणा झाणं करावि अव्व/करावणीयं/करावणिज्जं।**
5. गुरु द्वारा शिष्य का ज्ञान बढ़वाया जाना चाहिए-**गुरुणा सीसस्स णाणं वड्ढाविअव्वं/वड्ढावणीयं/वड्ढावणिज्जं।**
6. माता द्वारा बालक खिलाया जाना चाहिए-**मायाए बालओ कीडाविअव्वो/कीडावणीओ/कीडावणिज्जो।**
7. साधु द्वारा मनुष्य जिवाया जाना चाहिए-**साहुणा णरो जीवाविअव्वो/जीवावणीयो/जीवावणिज्जो।**
8. साधु द्वारा राजा को बैठाया जाना चाहिए-**साहुणा नरिंदो अच्छाविअव्वो/अच्छावणीयो/अच्छावणिज्जो।**
9. गुरु द्वारा पढ़वाने योग्य ग्रन्थ पढ़वाया गया-**गुरुणा पढाविअव्वो गंथो पढाविओ।**
10. आचार्य द्वारा सेवा करवाने योग्य शिष्य बुलाया जाता है-**आयरिएण सेवाविअव्वो सीसो कोक्काविज्जइ।**

क्रमश:

जाव सद्धाए निक्खंतो तमेव अणुपालिया
विजहित्तु विसोत्तियं (विजहित्ता पुव्वसंजोगं)

पूर्व संयोगों का त्याग करके जिस श्रद्धा से संयमपथ
पर कदम बढ़ाया है, उसी श्रद्धा के साथ संयम का पालन करे।

-आचाराङ्ग सूत्र 1.1.3.23

पणया वीरा महावीहिं।

वीर पुरुष महामार्ग पर समर्पित होते हैं।

-आचाराङ्ग सूत्र 1.1.3.24

समयं तत्थुवेहाए अप्पाणं विप्पसायए।

हे साधक! तू तो समता की पर्यालोचना कर अर्थात् समता की
साधना कर और अपने आपको प्रसन्न रख, आनन्द में रख।

-आचाराङ्ग सूत्र 1.3.3.28

उसहनाहचरियं (10)

-कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य

कलिकालसव्वण्णुणा सिरिहेमचंदसूरिणा विरआओ तिसट्ठिसिलाहापुरिसाओ नाम गंथाओ उद्धरियस्स सिरिउसहनाहचरियस्स नाम गंथस्स आधारेण संकलियं इदं चरित्तं।

पंचमो ललियंगदेवभवो

ललियंगदेवो तस्स य समिद्धी–

दिव्वागिई सुसंठाणो, सत्तधाउज्झिअंगओ।
सिरीससुउमालंगो, कंतिकंतदिगंतरो।।
वज्जकाओ महोसाहो, पुण्णलक्खणलक्खिओ।
कामरुवो ओहिनाणी, सव्वविन्नाणपारगो।।

अणिमाइगुणोवेओ निद्दोसो अचिंतणिज्जवेभवो सो ललियंगुत्ति जहट्ठनामेण पसिद्धो जाओ।

ललिताङ्ग देव और उसकी समृद्धि

दिव्य आकृति, समचतुरस्र संस्थान, सप्त धातु रहित शरीर, शिरीष पुष्प के समान कोमल अङ्ग, सभी दिशाओं के अन्तर्भागों को देदीप्यमान करने जैसी कान्ति, वज्र के समान काया, अदम्य उत्साह, पुण्य के लक्षणों से लक्षित, मनोवांछित रूप, अवधिज्ञानी, समस्त विज्ञान में पारंगत, अणिमादि अष्ट सिद्धि से युक्त, निर्दोष और अचिन्तनीय वैभव, इस प्रकार वे महाबल मुनि देवभव में 'ललिताङ्ग' इस सार्थक नाम से प्रसिद्ध हुए।

जेण पाएसु रयणकडगा, कडीतडम्मि कडिसुत्तं, हत्थेसु कंकणजुगलं, भुएसुं अंगयजुम्मं वच्छम्मि हारलट्ठी, कंठे गेवेज्जयं, मुद्धाणंमि माला किरिडो अ इच्चाइभूसणवुंदं दिव्वाइं च वसणाइं तस्स सव्वंगभूसणं जोव्वणेण सह जायइ। मंगलपाढगा 'जय जय जगदाणंदो' त्ति पढिउं लग्गा।

जो पैरों में रत्नों के कड़े, कमर में कटिभूषण (कमर बन्ध), हाथों में कंगन, भुजाओं में भुजबन्ध, छाती (वक्ष–स्थल) में हार की लड़ी, गले में ग्रैवेयक, सिर

पर पुष्पमाला और मुकुटादि आभूषण, दिव्य वस्त्र और समस्त अंगों का 'भूषण रूप' यौवन के साथ उत्पन्न हुए। मंगलपाठक 'जय-जय जगदानन्द' का घोष करने लगे।

अह सो सुत्त-उट्ठिओ इव सव्वओ पासंतो चिंतेइ-'किं इंदयालं ? किं सिविणो? किं माया? किमिव एरिसं?, किं एयं गीयनिच्चाइं मं उद्दिसिऊण पयट्टइ, अयं लोगो विणीओ मम नाहाय किं चिट्ठइ? इमं सिरिमंतं रम्मं कल्लाणसयणं केण कम्मेण अहं पावित्था' इअ वियारंतं तं सुकोमलाए गिराए कयंजली पडिहारो विण्णवेइ।

अब वह सोकर उठे हुए व्यक्ति के समान उन सबको देखता हुआ सोचने लगा-'यह क्या इन्द्रजाल है?' क्या स्वप्न है, क्या माया है, ये सब क्या है? क्या ये गीत-नृत्य आदि मेरे लिये किये जा रहे हैं? ये लोग विनीत होकर मुझे नाथ (प्रभु) क्यों कह रहे हैं? इस लक्ष्मी मन्दिर रूप रमणीय व कल्याण भवन को किस कर्म के कारण मैंने प्राप्त किया?' इस प्रकार सोचते हुए उस ललिताङ्ग देव को सुमधुर वाणी में दोनों हाथ जोड़े हुए (अंजलीबद्ध) प्रतिहारी ने निवेदन किया-

हे नाह! अम्हे अज्ज धण्णा कयपुण्णा य, जेण तुमए सामिणा सणाहा जाया, पेऊससरिसदिट्ठीए विणमिरेसु अम्हासु पसायं कुणाहि, हे सामि! ईसाणकप्पो एसो जहासंकप्पिअ-पयायगो अणप्प-अक्खीण-सिरिओ सया सुहनिहाणं सिआ, एयंमि देवलोगे तुमए पउरपुण्णेण उवज्जिअं सिरिप्पहं इमं विमाणं साहुं अहुणा अलंकुणेसि।

हे नाथ (देव)! हम आज धन्य और कृत पुण्य हो गए हैं, जो आप जैसे स्वामी को पाकर सनाथ हो गए हैं, आप अपनी अमृतमयी दृष्टि से हम विनयी सेवकों पर कृपा कीजिए। हे स्वामी! यह ईशान कल्प नामक द्वितीय देवलोक है। जहाँ इच्छानुसार उत्पन्न हुए हो। अधिक और शाश्वत लक्ष्मी एवं सर्वदा सुख की खान है। इस देवलोक में आप प्रचुर पुण्य के प्रभाव से उत्पन्न हो इस श्रीप्रभ विमान को अब सुशोभित किया है।

अमी तुम्हाणं सहामंडणं सामाणिआ सुरा, एए तायत्तीसगा देवा गुरुपयठाणभूआ, एए अमरा पारिसज्जा लीलाविलासगोट्ठीसुं विणोअदाइणो, एए देवा संवम्मिआ विविहसत्थधारिणो सामिरक्खामहादक्खा अप्परक्खगा, अमी लोगपाला पुररक्खाहिकारिणो, एए सेणावइणो अणीगधुरंधरा, इमे

पइण्णगसुरा पउरजाणपयसरिसा, सव्वे एए सुरा मत्थयम्मि तुव आणं धरिस्संति।

ये सब सामानिक देव, आपकी सभा के अलंकार स्वरूप हैं, ये त्रायस्त्रिंशक देव गुरुपद के स्थान पर आसीन है, ये देव परिषद् में लीला-विलासमय गोष्ठी में आपका मनोरंजन करेंगे। ये देव स्वामी रक्षक सर्वदा कवच और विविध शस्त्रों के धारक आत्मरक्षक देव हैं। ये नगर रक्षणकारी लोकपाल देव हैं, ये शक्तिशाली सेना के सेनापति हैं, ये पुर अर्थात् नगरवासी प्रजा के तुल्य प्रकीर्णक देव हैं। ये सभी देव आपकी आज्ञा को मस्तक पर धारण करेंगे।

एए मणप्पसायजणगा रयणनिम्मिआ पासाया, एआओ सोवण्णकमलागराओ रयणमईओ वावीओ, इमे कीलणगगिरिणो रयणकंचणसिहरा, सच्छजलाओ एआओ कीलानईओ, इमाणि कीलोज्जाणाणि निच्चपुप्फफलाणि, एयं सहाघरं सुवण्णमाणिक्कनिम्मिअं, एयाइं सव्वाइं तव चित्ताइं हरिस्संति।

यह आपका मन को सन्तुष्टि प्रदायक रत्नों से निर्मित महल है। ये सब स्वर्ण कमल की खानरूप रत्नों से युक्त बावड़ियाँ हैं। यह रत्न एवं स्वर्ण शिखर युक्त क्रीड़ा स्थल (पर्वत) है। स्वच्छ जल वाली ये क्रीड़ा करने के लिये नदियाँ हैं। नित्य पुष्प और फलों से युक्त ये क्रीड़ा उद्यान हैं। स्वर्ण-माणिक्यों से निर्मित यह सभागार है, ये सब आपके चित्त को आनन्दित करने वाले हैं।

एआओ चामराऽऽयंसंतालिअंटहत्थाओ वार जुवईओ तुमं सइ सेविस्संति। अयं गंधव्ववग्गो चउव्विहाऽऽउज्जवायणचउरो तव पुरओ संगीयट्ठं सज्जो संचिट्ठइ।

ये वीराङ्गनाएँ चमर, दर्पण और पंखे को हाथ में लेकर सदा आपकी सेवा करेगी। चार प्रकार वाद्यों में प्रवीण यह गंधर्व वर्ग आपके सम्मुख संगीत के लिये तैयार होकर यहाँ उपस्थित हैं।

तओ सो ओहिनाणेण पुव्वं जम्मं सुमरेइ-सयंबुद्धेण मंतिणा धम्ममित्तेणं जिणिंदधम्मं विबोहिओ सो हं विज्जाहरपई, तया पव्वज्जं पडिवण्णो तयच्चिअ अणसणं कासी, तओ संजमाराहणफलं मए इमं पत्तं। 'अहो धम्मस्स वइभवं' ति सुमरिऊण सयणिज्जाओ उट्ठाय सिंघासणं अलंकरेइ।

तभी उस ललिताङ्ग देव ने अवधिज्ञान से पूर्वजन्म का स्मरण किया–धर्ममित्र स्वयंबुद्ध मन्त्री द्वारा जिनधर्म का विशेष बोध दिया गया, वहाँ (पूर्वजन्मों में) मैं विद्याधर राजा था। तब वहाँ प्रव्रज्या लेकर दत्तचित्त होकर अनशन किया। तब संयम आराधन का फल मेरे द्वारा इस प्रकार प्राप्त किया गया है। 'ओह! धर्म का वैभव' इस प्रकार स्मरण कर शय्या से उठकर सिंहासन को सुशोभित करता है।

ललियंगदेवस्स जिणपडिमा–दाढापूअणं–

तओ देवेहिं रज्जाभिसेएण अहिसित्तो चामरेहिं च वीइओ गंधव्वेहिं अहिगीओ सो समुत्थाय भत्तिपुण्णमाणसो सासयजिणचेइए गंतूण जिणपडिमाओ समच्चेइ, देवेहिं गीयमंगले किज्जमाणे विविहथोत्तेहिं जिणाहीसं थुणेइ, तओ नाणदीवगाइं पोत्थयाइं वाएइ, तओ माणवथंभट्ठिआओ जिणीसराणं दाढाओ पूएइ।

ललिताङ्ग देव का जिनप्रतिमा तथा दाढ़ाओं का पूजन

तब देवों के द्वारा राज्याभिषेक द्वारा अधिष्ठित किया गया और चमर डुलाये गये और गन्धर्व देवों द्वारा मंगलगीत गाये गये। तदुपरान्त वह ललिताङ्ग देव भक्तिपूरित मन से उठकर शाश्वत जिन–चैत्यों में जाकर जिन प्रतिमाओं की पूजा की, देवताओं द्वारा मंगलगीत करते हुए विविध स्तोत्रों से जिनेन्द्र देव की पूजा की गई। तत्पश्चात् ज्ञान के लिए दीपक के समान पुस्तकों का वाचन किया और उसके बाद मण्डप के खम्भे में स्थित जिनेश्वरों की अस्थियों की दाढ़ाओं की पूजा की।

क्रमशः

अनुवादक–राकेश कुमार जैन

सभी पाठकों और लेखकों से हमारा सीधा सम्पर्क होने के कारण हमारे द्वारा कोई अविनय आशातना हुई हो तो क्षमा के महान पर्व संवत्सरी के इस पावन अवसर पर हम सहृदय करबद्ध होकर क्षमा–याचना करते हैं।

–क्षमाप्रार्थी सम्पादक मण्डल

संस्कृत-खण्ड

हरिश्चन्द्रचरित्रम्

जीवनाधार:-कृतज्ञता

-पं. लक्ष्मण वासुदेव माण्डवगणे

श्रद्धेयगौतममुनिमहाभागेन पण्डितमाण्डवगणेमहाभागस्य सकाशात् संस्कृतभाषाऽध्ययनकाले जवाहराचार्यप्रणीतस्य जवाहरकिरणावल्या हरिश्चन्द्रभागस्याधारेण संस्कृतभाषायामनुवादस्य अभ्यास: कृत:। मुनिमहाभागेन कृतेऽनुवादे संशोधनं कृत्वा पण्डितमाण्डवगणेमहाभागेन इदं हरिश्चन्द्रचरित्रं सम्यग्रूपेण अनूदितम्। संस्कृतभाषाया अध्येतृणां कृते उपयुक्तमिदं हरिश्चन्द्रचरित्रं स्वाध्यायशिक्षायां क्रमशो दीयते। -सम्पादक

जीवन का आधार-कृतज्ञता

स्वावलम्बी रोहित

यद्यपि दुर्भाग्यवशात् नृपस्तारामती चोभावपि दम्पती पारतन्त्र्यदु:ख-भाजावास्तां तथापि भावात्मकतया तौ स्वतन्त्रावेवास्ताम्। रोहितस्तु स्वतन्त्र एवासीत्। अधुनाऽपि स्वतन्त्र एव वर्तते। अत: स स्वातन्त्र्योपासनं नाऽतित्यक्षत्। स्वातन्त्र्येऽतीव सुखं पारतन्त्र्ये च भृशं दु:खमस्ति। तेन स्वातन्त्र्यं सर्वेभ्यो रोचते। परतन्त्रतां न कोऽप्यभिलषति। तथापि परतन्त्रतापरवशतया नर: शनै: शनै: स्वातन्त्र्यगुणं विस्मृत्य परतन्त्रतायामेव सुखं परमानन्दं च मनुते। परतन्त्रतैव तेभ्य: सुखदायिनी प्रतिभाति। यश्च स्वतन्त्र्यताया माहात्म्यमल्पांशेनाऽपि जानाति तस्य कृते परतन्त्रता नरकदु:खदायिनी भवति।

स्वावलम्बी रोहित

यद्यपि दुर्भाग्यवश राजा और तारामती दोनों दम्पती परतन्त्रता के दु:खभागी थे, तो भी भावात्मक रूप से दोनों स्वतन्त्र ही थे। रोहित तो स्वतन्त्र ही था। अभी भी स्वतन्त्र ही है। अत: उसने स्वतन्त्रता की उपासना को नहीं त्यागा। स्वतन्त्रता में अतीव सुख तथा परतन्त्रता में अत्यन्त दु:ख है। इसलिए स्वतन्त्रता सबको अच्छी लगती है। परतन्त्रता को कोई नहीं चाहता है। परन्तु परतन्त्रता की परवशता से व्यक्ति धीरे-धीरे स्वातन्त्र्य गुण को भूलकर परतन्त्रता में ही सुख और परमानन्द मानता है। परतन्त्रता ही उसे सुखदायिनी लगती है। जो व्यक्ति स्वतन्त्रता के महत्त्व को अल्पांश में भी जानता है, उसके लिए परतन्त्रता नरक के समान दु:खदायी होती है।

मातुर्भोजनादेव भोजनं गृह्णन् स बालो रोहितो व्यचिन्तयत्–मदर्थमेव माताऽल्पभोजनं कृत्वा बुभुक्षिता तिष्ठति। एतादृश्यां स्थितौ मया मातुर्भोजनात् भोजनग्रहणं नितरामन्याय्यं वर्तते। महत्पापमस्ति। अत: स्वोदरपूरणार्थं आवश्यकं भोजनं मया स्वयमेव सम्पादनीयमिति सम्प्रधार्य स रोहित एकस्मिन् दिने स्वमातरं प्रोवाच–अहमद्यप्रभृति मम कृते स्वयमेव भोजनमर्जयिष्यामि। अत: परमहमत्याचारान् न सहिष्ये। कतिपयैरेव दिनैरहं त्वां पितरमपि च दास्यान्मोचयिष्यामि। रोहितस्येदं स्वैरं वचनमाकर्ण्य गद्गद्हृदया तारामती प्रसन्नाऽभवत्। रोहितं चाऽवदत्–जात! तव विचारस्त्वतीवरमणीयो वर्तते। परमिदानीं त्वं बाल एवाऽसि। अतो यौवनारूढस्त्वमिदमवश्यमेव कुरुष्व, इति।

माता के भोजन से ही भोजन ग्रहण करते हुए उस बालक रोहित ने विचार किया–मेरे लिए ही माता थोड़ा भोजन करके भूखी रहती है। इस स्थिति में मेरे द्वारा माता के भोजन से भोजन ग्रहण करना नितान्त अन्याय है। बहुत बड़ा पाप है। इसलिए स्वयं के उदर की पूर्ति के लिए मेरे द्वारा स्वयं ही भोजन प्राप्त करना चाहिए, ऐसा विचार करके वह रोहित एक दिन माता को बोला–मैं आज से मेरे लिए स्वयं ही भोजन का अर्जन करुँगा। इसके बाद में अत्याचारों को सहन नहीं करुँगा। कुछ दिनों के बाद ही मैं तुमको व पिताजी को दासपन से छुड़वाउँगा। रोहित के ऐसे स्वतन्त्र विचार सुनकर गद्गद् हृदय से तारामती प्रसन्न हुई। रोहित को बोली–हे पुत्र! तुम्हारा विचार तो अत्यन्त रमणीय है। परन्तु तुम अभी बालक ही हो, अत: यौवन पर आरूढ़ होने पर तुम अवश्य ही इस कार्य को करो।

तदा रोहित: प्रत्यवादीत्–न हि। मातर्न हि। अहमत: परं त्वदीय भोजनात् भोजनं न करिष्यामि। न चाऽस्मिन् गृहे किमपि कार्यं कृत्वाऽत्याचारं सहिष्ये। यद्यप्यहं बालस्तथापि ममोदरमप्यतीवाल्पं विद्यते। तस्य पूर्तये पर्याप्तं भोजनमहमावाभ्यामल्पाल्पकराभ्यामवश्यमेव सम्पादयिष्ये। त्वमस्मिन् गृहे दासीभावेन समागता नाऽहम्। अतस्त्वमस्य ब्राह्मणस्याधीना वर्तस्व। नाऽहमत: परमत्र स्थातुं शक्नोमि। अहं स्वतन्त्रतया पृथक् वर्त्स्यामि, इति।

तब रोहित बोला–नहीं माता, नहीं। मैं आज से आपके भोजन से भोजन नहीं करुँगा। और न ही इस घर में कोई भी कार्य करके अत्याचार को सहन करुँगा। यद्यपि मैं

अभी बालक हूँ, तो भी मेरा उदर भी अत्यन्त अल्प है, उसकी पूर्ति के लिए पर्याप्त भोजन मैं इन छोटे-छोटे दोनों हाथों से अवश्य प्राप्त कर लूँगा।आप इस घर में दासीभाव से आई हो, मैं नहीं। अत: तुम इस ब्राह्मण के अधीन रहो। आज से आगे मैं यहाँ रहने में समर्थ नहीं हूँ। मैं स्वतन्त्र रूप से अलग रहूँगा।

अस्मिन् रोहितवचने प्रत्युत्तरं दातुमसमर्था तारामती प्राह-जात! भवतु। त्वं यदा नेष्यसि तदानय। आवां सम्मील्य तद् भक्षयाव, इति। एवं बालोऽपि रोहित: पारतन्त्र्यशृङ्खलां भित्वा स्वातन्त्रयेण वर्तितुकाम इदानीन्तेभ्य: पारतन्त्र्ये सुखमनुभवद्भ्यो भारतीययुवभ्यो नितरामेव वरीयानास्ति।

रोहित के इस वचन का उत्तर देने में असमर्थ तारामती बोली-हे पुत्र! ठीक है। तुम जब जाओगे तब ले आना। हम दोनों मिलकर उसे खा लेंगे। इस प्रकार बालक रोहित, परतन्त्रता की बेड़ियों को तोड़कर स्वतन्त्रतापूर्वक रहने की इच्छा वाला, आज के परतन्त्रता के सुख का अनुभव करने वाले भारतीय युवकों से अत्यन्त ही श्रेष्ठ है।

अन्येद्यु: रोहित: प्रात:काले एवोत्थाय वनमगच्छत्। तत्र वृक्षमारुह्य सुस्वादूनि फलानि चित्वा स्वयं सस्वदे। कानिचिन्मातु: कृते ररक्ष। पुरा वनानि जनानां स्वैरभोग्यायासन्। बहवो जना वनावष्टम्भेनैव स्वोपजीविकां चक्रु:। कतिचित् जना: गोमहिषादीन् घासार्थं वनान्यानीयोपजीवन्ति स्म। केचिच्च वन्यानि फलमूलादीनि भक्षयित्वा विक्रीय वा दिनान्ययापयन्। वने न कस्यापि व्यक्तिविशेषस्याधिकार आसीत्। अतो वने यथेष्टं चरित्वा स्वादूनि फलान्या-स्वाद्य कानिचित् फलानि मातु: कृते आदाय रोहितो गृहमागमत्।

दूसरे दिन रोहित प्रात:काल ही उठकर वन को चला गया। वहाँ वृक्ष पर चढ़कर सुस्वादिष्ट फलों को एकत्रित करके स्वयं ने उनका आस्वादन किया तथा कुछ फल माता के लिए सुरक्षित रखे। पहले वन लोगों के स्वतन्त्र भोग के लिए थे। बहुत से लोग वन के आश्रय से ही अपनी आजीविका करते थे। कुछ लोग गाय-भैंस आदि को घास के लिए वन में लाकर जीवन चलाते थे। कुछ फल, मूल आदि खाकर अथवा बेचकर दिन बिताते थे। वनों पर किसी व्यक्ति विशेष का अधिकार नहीं था। अत: वन में इच्छानुसार विचरण करके स्वादिष्ट फलों का आस्वादन करके कुछ फल माता के लिए लेकर रोहित घर को आया।

इत: प्रात:कालादारभ्य प्राणेभ्योऽपि प्रियतरं स्वं पुत्रं रोहितमनवलोकयन्ती तारामती प्रसभं चिन्ताचिन्तितमानसा रोहितागमन प्रतीक्षमाणाऽतिष्ठत्। रोहितमायान्तमवलोक्यैव व्यपगताखिलचिन्ताभारनिर्वृता तारामती तमपृच्छत्–जात! अद्य त्वं कुत्र गत आसी:। रोहितोऽवादीत्–मात:! अद्याऽहं प्रातरेव वनमयासम्। तत्र प्रकृतेर्निसर्गरमणीयतां समवलोक्यानन्दसागरनिमग्नमासीत् मे चेत:। त्वं यथा मम माता तथा प्रकृतिरप्यखिलविश्वस्य माताऽस्ति। यथा त्वं स्वयं कष्टान्यनुभूय मह्यं भोजनं ददासि तथेयं परमवत्सला प्रकृतिमाताऽप्यखिलं विश्वं विना भेदभावं पत्रपुष्पफलादिभि: पुष्णाति। एतानि फलानि दृश्यन्ताम्। एभिर्ममापि बुभुक्षा प्रशामिता भवेत् तवाऽपि। अत: परं नाऽहं त्वयाऽऽनीतात् भोजनात् भोजनं करिष्यामि। अहं स्वयमेव मदर्थं भोजनमानेष्यामि। अद्यप्रभृति नाऽहं कस्याप्यधीनत्वेन जीवनं यापयितुं शक्ष्यामि। न च कस्यापि किमपि वचनं श्रोष्यामि। स्वतन्त्रजीवनं व्यत्याय्य भवतीमपि दु:खान्मोचयिष्यामि।

इधर प्रात:काल से ही प्राणों से प्रिय अपने पुत्र रोहित को नहीं देखती हुई तारामती चिन्ता से अत्यन्त चिन्तित मन वाली रोहित के आने की प्रतिक्षा कर रही थी। रोहित को आता हुआ देखकर ही सम्पूर्ण चिन्ता के भार से मुक्त, प्रसन्न बनी हुई तारामती उसको पूछने लगी–पुत्र! आज तुम कहाँ गये थे? रोहित बोला–माता! आज मैं प्रात:काल ही वन को गया था। वहाँ प्रकृति की स्वाभाविक रमणीयता को देखकर मेरा मन आनन्द सागर में निमग्न हो गया। जैसे तुम मेरी माता हो वैसे प्रकृति सम्पूर्ण विश्व की माता है। जैसे तुम स्वयं कष्टों का अनुभव करके मुझे भोजन देती हो, वैसे ही परम वत्सला प्रकृति माता भी सम्पूर्ण विश्व को बिना भेदभाव के पत्ते, फूल, फलादि से पुष्ट करती है। ये फल देखो। इनसे मेरी भूख शान्त हो गई, तुम्हारी भी हो जाय। आज से मैं तुम्हारे लाये भोजन में से भोजन नहीं करुँगा। मैं मेरे लिए स्वयं ही भोजन लाउँगा। आज से मैं किसी की भी अधीनता से जीवन यापन नहीं करुँगा। न किसी का कोई भी वचन सुनुँगा। स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करके आपको भी दु:खों से छुड़वाउँगा।

(क्रमश:)

अनुवादक–प्रकाशचन्द जैन

भाविआचार्यप्रवराय नमो नमः

(भावी आचार्यप्रवर को नमन)

-सम्पादक

'आचार्यप्रवरेण श्रीहीराचन्द्रमहाभागेन भावि-आचार्यपदे श्रीमहेन्द्र-मुनिमहाभागो नियुक्तः।' इमं वृत्तान्तं श्रुत्वा मे मनो मोमुद्यते। आचार्यश्री हस्तिमल्लमहोदयेन दीक्षितं शिक्षितं परमविनीतं सुशिष्यं सम्प्राप्य सकलश्रीसङ्घोऽपि अतीव हर्षित आसीत्। आचार्यहस्तिवर्येण तत्रभवतो भावविशुद्धिं पुरुषकारं च दृष्ट्वा 'महान् अध्यवसायी' इति सम्बोधनेन सम्बोधितः।

आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्रजी म.सा. ने भावी आचार्यपद पर श्री महेन्द्रमुनिजी को नियुक्त किया है। यह वृत्तान्त सुनकर मेरा मन अत्यन्त प्रसन्न है। आचार्यश्री हस्तीमलजी म.सा. द्वारा दीक्षित, शिक्षित, परम विनीत, सुशिष्य को प्राप्त करके सकलश्री संघ अतीव हर्ष का अनुभव कर रहा था। आचार्यश्री हस्ती द्वारा उनकी भावविशुद्धि तथा पुरुषार्थ को देखकर उन्हें 'महान् अध्यवसायी' इस सम्बोधन से सम्बोधित किया था।

सरसव्याख्याता श्रद्धेयः श्रीमहेन्द्रमुनिर्यद्यपि आचार्यप्रवर-श्रीहीराचन्द्रमहाभागधेयानां शिष्यो नास्ति, परं गुरुभ्राता अस्ति तथापि येन अग्लानभावेन आचार्यवर्यं सेवते स भावः सर्वेषां कृते आचरणीय आदरणीयः प्रशंसनीयो वर्तते।

सरस व्याख्यानी श्रद्धेय श्री महेन्द्रमुनिजी यद्यपि आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्रजी म.सा. के शिष्य नहीं हैं अपितु गुरुभ्राता हैं, फिर भी जिस अग्लानभाव से उनकी सेवा करते हैं, वह भाव सबके लिए आचरणीय, आदरणीय तथा प्रशंसनीय है।

भाविआचार्यश्री-महेन्द्रमुनिमहाभागो न केवलमागमशास्त्रग्रन्थानां ज्ञाता अस्ति, अपितु सङ्घस्य साधु-साध्वीनां श्रावक-श्राविकाणां परमप्रेरकोऽप्यस्ति। अनेकेषामागमानां मूलपाठान् भवान् कण्ठीकृता आसन्।

छेदसूत्राणां तु विशेषज्ञ एव अस्ति। अधुनाऽपि भवानाचार्यप्रवराणां वस्त्राणि प्रलेखयति। कस्य मुने: का आवश्यकता वर्तते इदं तु सम्यक्तया जानाति। लघुमुनिभ्यस्तु भवान् धायमाता इव वर्तते। अनेकवर्षेभ्यो वर्षीतप–आराधनां करोति'। मासक्षपणस्य तपोऽपि अत्रभवद्भि: सम्पन्नम्।

भावी आचार्यश्री महेन्द्रमुनिजी न केवल आगम, शास्त्र तथा ग्रन्थों के ज्ञाता हैं, अपितु संघ के साधु-साध्वियों तथा श्रावक-श्राविकाओं के लिए परम प्रेरक भी हैं। आपको अनेक आगमों के मूलपाठ कण्ठस्थ हैं, छेदसूत्रों के तो विशेषज्ञ हैं। आज भी आप आचार्य भगवन्त के वस्त्रादि का प्रतिलेखन करते हैं। किस मुनि को क्या आवश्यकता है, यह आप अच्छी तरह जानते हैं। छोटे मुनियों के लिए तो आप 'धायमाता' के समान हैं। अनेक वर्षों से आपश्री वर्षीतप की आराधना कर रहे हैं। मासखमण की तपस्या भी आपने की है।

'गुरूणामाज्ञा ह्यनुलङ्घनीया' इमां सूक्तिं विचिन्त्य मुनिप्रवरेण इदं पदं स्वीकृतम्। 'गुरुओं की आज्ञा अनुलंघनीय होती है' इस सूक्ति का चिन्तन करके आपने इस पद को स्वीकार किया है।

एतादृशस्य मुनिपुङ्गवस्याचार्यपदे मनोनयनं सङ्घस्य सौभाग्यमेव वर्तते। वयं सर्वे प्रमुदिता: स्म:। अत्रभवतां नेतृत्वे सङ्घो बहुमुखीं प्रगतिं कुर्याद्, इति वयं आशास्महे।

ऐसे मुनिपुंगव का आचार्यपद पर मनोनयन संघ का सौभाग्य ही है। हम सभी प्रमुदित हैं। आपश्री के नेतृत्त्व में संघ बहुमुखी प्रगति करेगा, ऐसी हम आशा करते हैं।

आगइं गइं परिण्णाय दोहिं वि अंतेहिं अदिस्समाणेहिं से न छिज्जइ न भिज्जइ न डज्झइ न हम्मइ कंचणं सव्वलोए।

आगमन और गमन के मध्य में तथा दोनों के अन्त में अदृश्य रहने वाली आत्मा को जानो और देखों कि वह राग-द्वेष-दोनों अन्तों से दूर रहता है। वह समूचे लोक में न किसी से छेदा जाता है, न भेदा जाता है, न जलाया जाता है, न मारा जाता है।

-आचाराङ्ग सूत्र 1.3.3.31

हिन्दी-खण्ड

प्रवचन

साधना के सूत्रों से सम्पृक्त है आचाराङ्गसूत्र

आचार्यप्रवर श्री हीराचन्द्रजी म.सा.

अनन्त उपकारी तीर्थङ्करों की वाणी गणधरों के द्वारा अङ्ग आगमों में गूँथी गई है। अङ्ग आगमों में प्रथम है 'आयारो' या 'आचाराङ्ग'। यह आगम सभी अङ्ग आगमों के प्रमुख एवं सारभूत है। इसमें एक श्रमण के लिए साधना के सूत्र दिए गए हैं।

दशवैकालिक सूत्र जहाँ पञ्च महाव्रतों एवं संयम-साधना में स्थिरता को महत्त्व देता है वहाँ आचाराङ्गसूत्र साधक को भीतर से आत्मशुद्धि, अनासक्ति एवं अप्रमत्तता में दृढ़ बनाता है। यहाँ पर कुछ साधना-सूत्रों की चर्चा की जा रही है।

(1) आचाराङ्गसूत्र का एक-एक सूत्र मूल्यवान है। प्रथम अध्ययन के उद्देशकों में षट्कायिक जीवों की हिंसा से बचने की प्रेरणा की गई है। पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पति-कायिक एवं त्रसकायिक सभी जीवों में चेतना है। जैसे मनुष्य चेतनाशील है वैसे ही अन्य एकेन्द्रिय आदि जीव भी चेतनावान हैं। जैसे मुझे पीड़ा पहुँचाए जाने पर सताए जाने पर दु:ख होता है वैसे ही अन्य जीवों को भी दु:ख होता है। अत: मैं उनकी पीड़ा को समझकर उनके साथ दया एवं करुणा का व्यवहार करूँ। अपनी सुख-सुविधा का ही नहीं, उनकी सुख-सुविधा का भी ध्यान रखूँ। इस एक सूत्र को भी अपना लिया जाए तो जानबूझकर मेरे से किसी का अहित नहीं हो सकता। साधना का प्रथम सूत्र है सब जीवों के प्रति आत्मवद्भाव। वह आचाराङ्ग के प्रथम अध्ययन में खूब पुष्ट हुआ है।

(2) जो कामनाओं में जीता है, वह दु:ख को प्राप्त करता है। सभी कामनाएँ कभी किसी की पूरी नहीं होतीं। यह जीवन सीमित है, किन्तु कामनाएँ अनन्त हो सकती हैं। एक कामना के पूरी होने पर दूसरी उत्पन्न होती है। मनुष्य जब तक बाहरी पदार्थों में अपना जीवन समझता है तब तक वह कामनाओं का अन्त नहीं कर पाता। वह अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए दूसरे प्राणियों को पीड़ा देने में उनकी हिंसा करने में संकोच नहीं करता। कामभोग छोड़ना कठिन अवश्य लगता है, किन्तु जीवन सीमित है, एक दिन समाप्त होने वाला है। इसलिए आचाराङ्ग सूत्र साधक को सावधान करता है-

कामा दुरइक्कमा, जीवियं दुप्पडिबूहगं, कामकामी खलु अयं पुरिसे, से सोयइ, जूरइ, तिप्पइ, पिड्डइ, परितप्पइ। –आचाराङ्गसूत्र 1.2.5.82

जो कामनाओं में लिप्त रहता है, वह मनुष्य उनके पूरा न होने पर शोक करता है, विलाप करता है, आँसू बहाता है, स्वयं पीड़ित होता है तथा दूसरों को दु:खी करता है, इसलिए कामनाओं पर लगाम लगाना जरूरी है। संयमी जीवन कामनाओं पर नियन्त्रण का जीवन है। यहाँ ज्ञान के द्वारा मन को वश में किया जाता है तथा यह जान लिया जाता है कि जो कामनाएँ दु:ख का कारण हैं, उनका त्याग अनिवार्य है।

(3) साधु को अपनी आत्मशुद्धि के लिए जिस साधना की आवश्यकता है, उसके सूत्र आचाराङ्गसूत्र में सर्वत्र मोतियों की भाँति बिखरे पड़े हैं। आचाराङ्गसूत्र में समता को धर्म कहा गया है–**समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए** (आचाराङ्ग 1.5.3.23)।

समता की पुष्टि करते हुए श्रमण के लिए निर्देश है कि उसे आहार आदि मिल जाये तो अभिमान न करे और न मिले तो शोक नहीं करे। और बहुत मिल जाने पर उसका संग्रह न करे। अहिंसा, समता के साथ अपरिग्रह की साधना हेतु भी संग्रह न करने का सन्देश दिया गया है। द्वितीय अध्ययन का सूत्र कहता है–**'परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्केज्जा।'**

(4) जो मायावी जीवन जीता है तथा उससे मूढ़ बना रहता है वह अनैतिक तरीके अपनाकर लोभ करता है। ऐसा प्राणी अपने साथ ही वैर बढ़ाता है। अर्थात् स्वयं अपना शत्रु बन जाता है। जो मायावी होता है, वह बार–बार जन्म–मरण करता है। अत: संयम के पालन में भी माया का परित्याग आवश्यक है।

(5) साधक को लोकैषणा का लक्ष्य रखकर साधना नहीं करनी चाहिये। आचाराङ्ग में कहा गया है–**'नो लोगस्सेसणं चरे।'** (आचाराङ्गसूत्र 1.4.1.4) क्योंकि लोकैषणा आत्मशुद्धि के लक्ष्य से भटकाती है। विकारों पर विजय साधक का प्रथम कर्त्तव्य है। साधना में लोकैषणा बाधक है। सत्य को जानकर, धर्म को समझकर संसार से निर्वेद या वैराग्य ही साधक के द्वारा आचरणीय है। संसार से वैराग्य का अर्थ संसार के विषम भोगों से वैराग्य है। किन्तु यश एवं कीर्ति की अभिलाषा से रहित होकर जीना भी वैराग्य का रूप है। संयम–जीवन में आदर सम्मान की प्राप्ति सहज ही हो जाती है। जब साधक में उसे बढ़ाने की एवं यश–कीर्ति की अभिलाषा जाग जाती है तो वह आत्म–साधना में बाधक बनती है। यश–कीर्ति का मिलना सहज होने में कोई दोष नहीं है, किन्तु उसकी अभिलाषा एवं एषणा होना दोष है।

(6) अपनी कमजोरी का कारण दूसरों को मानना उचित नहीं है। स्वयं ही

स्वयं का कल्याण कर सकता है। भगवान की आज्ञा का आकांक्षी साधक राग-द्वेष से रहित होकर कर्म शरीर को धुनता है तथा अपने कषायों को जीर्ण करता है-**'इह आणाकंखी पंडिए, अणिहे, एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरं, कसेहि अप्पाणं जरेहि अप्पाणं।'** (आचाराङ्ग 1.4.3.21) साधक का लक्ष्य अपने आपको कसना या नियन्त्रित करना होता है। नियन्त्रित कर आत्मोन्नति करना होता है। दूसरों की कमियाँ देखने से अपनी कमियाँ दूर नहीं होतीं। अपनी कमियों को देखकर ही उन्हें दूर किया जा सकता है।

(7) क्रोध को जीतने के लिए आचाराङ्गसूत्र कहता है-**विगिंच कोहं अविकंपमाणे।** (आचाराङ्ग 1.4.3.23) जब कोई आत्म समाधि में रहकर अनासक्त भाव से जीता है तो वह अकम्पित होकर क्रोध को जीत सकता है। धैर्य से क्रोध को जीता जा सकता है। इसलिए ज्ञानपूर्वक अपने को आत्म-समाधि में रखते हुए धैर्य का अभ्यास करना चाहिये।

आचाराङ्गसूत्र जितना एक संयमी साधु के लिए उपयोगी है उतना ही एक श्रावक के लिए भी उपयोगी है। क्योंकि इसमें आत्म-साधना के अनेक सूत्र दोनों के लिए समान रूप से उपादेय हैं। अपने विकारों पर विजय दोनों को प्राप्त करनी है। हिंसा को छोड़कर अपरिग्रह और अप्रमाद के मार्ग पर दोनों को चलना है। क्रोध, मान, माया एवं लोभ पर विजय दोनों को प्राप्त करनी है और आचाराङ्ग सूत्र इन सबसे रहित होने का मार्ग प्रशस्त करता है। मोह का त्याग, कामवासनाओं का त्याग दोनों प्रकार के साधकों के लिए आवश्यक है। अन्तर यह है कि साधु पूर्णतया उस साधना में निरवद्य रूप से, निरतिचार रूप से लगा रह सकता है और श्रावक उसका आंशिक प्रयोग कर सकता है। प्रधानता से गृहस्थों के लिए कहा गया है-**कामेसु गिद्धा निचयं करेंति, संसिच्चमाणा पुणरेंति गब्भं** (आचाराङ्ग सूत्र 1.3.2.14)। जो कामनाओं में गृद्ध रहते हैं वे संग्रह में लगे रहते हैं, वे बाहरी पदार्थों का संग्रह भी करते हैं और कर्मों का संचय भी करते रहते हैं। इसलिए जिन्हें कर्म सञ्चय से विराम पाना है, उन्हें कामभोग में गृद्ध या मूर्च्छित नहीं होना है। जो कामनाओं में आसक्त होते हैं वे मनुष्य बहुत दु:ख पाते हैं-**बहुदुक्खा हु जंतवो, सत्ता कामेसु माणवा** (आचाराङ्ग सूत्र 1.6.1.8)। इसलिए दु:ख रहित होना है तो काम वासनाओं पर, भोग की प्रवृत्तियों पर, भोग की रुचि पर विजय प्राप्त करनी आवश्यक है।

यहाँ कुछ बातें संक्षेप में कही गई हैं। आचाराङ्गसूत्र का एक-एक वाक्य साधक के लिए मार्गदर्शक है। साधक जब शान्तचित्त से इसका स्वाध्याय करता है तो वह अपनी साधना को आगे बढ़ाने हेतु प्रकाश प्राप्त कर लेता है।

आगम अनुप्रेक्षा-एक शब्द-परिक्रमा

-उपाध्याय श्री रमेशमुनिजी शास्त्री

यह एक तथ्य पूर्ण कथ्य है कि अभिव्यक्ति स्वयं सिद्ध दिव्यमयी शक्ति है और असीम क्षमता का महाकोष है। अभिव्यक्ति एवं अर्थ-व्यञ्जना में शब्द-शक्ति की अपनी अहं भूमिका रही है। शब्द और अभिव्यक्ति में पर्याप्तत: भेद-रेखा अमिट रूप से अंकित है। शब्द अपने में एक शक्ति है जबकि अभिव्यक्ति उसका परिणाम रूप में रुपायित है। प्रत्येक शब्द अपने वाच्य अर्थ के अपार वैभव से सम्पन्न है, समृद्ध है। उस शब्द के अर्थ की अपनी व्यक्तिमत्ता है, प्राणमत्ता है और सुनिर्णित परिभाषा है। अभिव्यक्ति के बहुविध उपकरणों में भाषा का भी जो स्थान है, वह वस्तुवृत्या शिरसि शेखरायमाण हैं। शब्द के रूप एवं अर्थ में काल तथा क्षेत्र का प्रभाव भी दृष्टिगत होता है। यथार्थता यह है कि दीर्घकाल के अनन्तर शब्द के मौलिक स्वरूप में निश्चयत: परिवर्तन परिलक्षित होता है। परिवर्तन की प्रस्तुत नित्यश:धारा में आगमीय शब्दावली भी अपना अर्थ अभिप्राय विशेषरूपेण ग्रहण करती है। इसी सन्दर्भ में आगम एवं अनुप्रेक्षा शब्दद्वय पर विचार-विमर्शन यथामति से किया जा रहा है।

(1) आगम-'आगम' शब्द प्राकृत और संस्कृत इन दोनों भाषाओं में समान रूप से यत्र-तत्र प्रसंगानुसार दृष्टिगत होता है, एतदर्श यह तत्सम शब्द है। प्रस्तुत शब्द 'आ' अर्थात् आङ् उपसर्ग-पुरस्सर 'गम्लृ' गतौ धातु से निष्पन्न है। 'आगम' शब्द के संरचना में आदि अक्षर 'आ' है अर्थात् आ-उपसर्ग का आशय 'समन्तात्' है, जिस का तात्पर्य 'पूर्ण' है तथा 'गम्' धातु का वाच्यार्थ 'गति-प्राप्ति' है। 'आगम' यह वह शब्द है जिसकी परिभाषा विविध सन्दर्भ में पठनीय है। जो गुरु-परम्परा से अविच्छिन्न गति से आ रहा है तथा जिसके माध्यम से जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर प्रभृति नवविध पदार्थों को जाना जाता है। वह 'आगम' की संज्ञा से अभिवासित होकर आता है। वह आगम है। जिसके द्वारा सम्यक् शिक्षा प्राप्त होती है, विशेष ज्ञान उपलब्ध होता है, वह भी आगम कहलाता है। जिससे वस्तु तत्त्व अर्थात् पदार्थ रहस्य का परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है, वह आगम है। जिसके

द्वारा सम्पूर्णता के साथ मर्यादित ज्ञान हो, उसी का नाम 'आगम' है। आप्त वचन से समुत्पन्न अर्थ अर्थात् पदार्थ ज्ञान 'आगम' कहा जाता है। उपचार से आप्त के वचन भी आगम है। आप्त का कथन भी आगम है। इस रूप में 'आगम' शब्द समग्र श्रुत का परिचायक है। परन्तु जैन अभिमत के अनुसार वह अर्थात् आगम विशेष ग्रन्थों के लिये प्रयुक्त है। किन्तु अतीत के अञ्चल में आगम शब्द के स्थान पर 'श्रुत' का प्रयोग प्रचुररूपेण होता था। जैसाकि श्रुतकेवली, श्रुत स्थविर शब्दों का प्रयोग जैनागमों में अनेक सन्दर्भ में दृष्टिगत होता है, किन्तु कहीं पर भी आगम केवली अथवा आगम स्थविर प्रयुक्त नहीं है। निष्कर्ष के रूप में तथ्य यह है कि सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धान्त, प्रवचन, उपदेश, प्रज्ञापन, आप्त वचन, जिनवचन से सर्वशब्द आगम के ही पर्याय वाच्यार्थ हैं। अर्थ एवं भाव की अपेक्षा से प्राय: इनमें समानता दृष्टिगत होती है।

इसी सन्दर्भ में यह तथ्य भी ज्ञातव्य है कि आगम के अर्थ में शास्त्र शब्द का प्रयोग हुआ है। जहाँ आगम-व्यवहार का वर्णन विवरण प्राप्त है। वहाँ उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो भेदों का सुस्पष्टत: प्रतिपादन भी पुन: पुन: पठनीय है। एक अपर विवक्षा के प्रकाश में आगम का वर्गीकरण रूप त्रिविध है-अर्थागम, सूत्रागम और तदुभयागम। जिन्होंने राग-द्वेष रूप प्रबल दुर्दान्त शत्रुओं को मूलत: पराजित किया है, वे सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान तीर्थंकर हैं, उनके अर्थ रूप उपदेश अर्थात् अर्थ रूप दिव्यवाणी 'अर्थागम' के स्वरूप में जाना माना जाता है। भगवान तीर्थंकर अर्थ रूप में उपदेश देते हैं। तथ्य यही है कि महाप्रभु तीर्थंकर अर्थात्मक आगम-साहित्य के प्रणेता हैं। एतदर्थ आगम-वाङ्मय में **'यत्र-तत्र' तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं तया णिग्गंथे पावयणे अट्ठेअयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे'** जैसा निर्दोष शाश्वत आघोष स्पष्टत: होता है। यहाँ पर यह विस्मरण नहीं होना चाहिये कि जैनागमों की प्रमाणिकता केवल गणधरकृत होने से नहीं है, अपितु उसके अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर प्रभुवर की वीतरागता और सर्वार्थ साक्षात्कारित्व के कारण है, जैनागमों में वक्ता के साक्षात् दर्शन तथा वीतरागता के अपूर्व-प्रभाव से भी दोष की अणुमात्र सम्भावना नहीं होती है और न पूर्वापर विरोध है तथा युक्ति-बाध भी नहीं है। सुस्पष्ट है कि वह अर्थ रूप आगम स्वयं तीर्थंकर प्रभु का है, दूसरों से भी उन्होंने नहीं लिया है। स्वयं गणधर उस अर्थागम के आधार पर सूत्ररूप रचना करते हैं। एतदर्थ इसी को सूत्रागम कहा जाता है। तीर्थंकरकृत 'अर्थागम' है, गणधरकृत

'सूत्रागम' है और तदुभयागम उपर्युक्त दोनों के द्वारा निर्मित है अर्थात् इनमें सूत्र भी है तथा अर्थ भी है। तथ्य रूप में यह ज्ञातव्य है कि गणधरों के प्रशिष्य और उनकी परम्परा में होने वाले अन्यान्य शिष्यों एवं प्रशिष्यों के लिये सूत्र और अर्थ के रूप में आगम को 'तदुभयागम' जानना एवं मानना सर्वथा समुचित है।

यह पूर्णत: प्रगट है कि किसी अपेक्षा से आगम का विभाजन त्रिविध रूप में भी स्पष्टत: दृष्टिगोचर होता है। जो इस प्रकार है-आत्मागम, अनन्तरागम और परम्परागम। यह स्पष्ट है कि आगम के अर्थ रूप तथा सूत्र रूप ये दो प्रकार है। महाप्रभु तीर्थंकर अर्थ रूप आगम का उपदेश प्रदान करते हैं। अतएव अर्थ रूप आगम तीर्थंकर का आत्मागम कहलाता है। क्योंकि वह अर्थागम उनका स्वयं का है। उन्होंने अन्य से कुछ भी नहीं लिया है। किन्तु वही अर्थागम गणधरों ने तीर्थंकर के माध्यम से प्राप्त किया है। तीर्थंकर और गणधर के मध्य किसी तृतीय व्यक्ति का अणुमात्र व्यवधान नहीं है। एतदर्थ गणधरों के लिये वह अर्थागम अनन्तरागम कहलाता है। किन्तु उस अर्थागम के आधार पर स्वयं गणधर सूत्ररूप संरचना करते हैं, उसी को सूत्रबद्ध अर्थात् गणधर अपने बुद्धि-पट में झेलकर गूँथ लेते हैं, निर्माण करते हैं। यही प्रामाणिकता का मूलभूत आधार है और मापदण्ड है। इसलिये सूत्रागम गणधरों के लिये 'आत्मागम' कहलाता है। गणधरों के साक्षात् अन्तेवासी शिष्यों को गणधरों से सूत्रागम सीधा प्राप्त होता है। उनके मध्य में कोई भी व्यवधान रूप कदापि नहीं होता है। अतएव उन शिष्यों के लिये सूत्रागम 'अनन्तरागम' है। किन्तु अर्थागम 'परम्परागम' है। क्योंकि वह उन्होंने अपने धर्मगुरु गणधरों से प्राप्त किया है। जो गणधरों को भी आत्मागम नहीं था। उन्होंने तीर्थंकर से प्राप्त किया था। गणधरों के प्रशिष्य और उनकी परम्परा में होने वाले अपर शिष्यों तथा प्रशिष्यों के लिये सूत्र तथा अर्थ वास्तव में परम्परागम है। आगम शब्द का सामान्य सा अर्थ 'आना' होता है। परन्तु निरुक्त में इसका वाच्य अर्थ किसी शब्द में किसी वर्ण का आना तथा प्रत्यय होता है। यथार्थता यही है कि 'आगम शब्द जैन-साहित्य का सर्वाधिक प्रचुर-प्राचीन पारिभाषिक शब्द विशेष है। तथा आगम न किसी लिपि का नाम है और न किसी भाषा की अभिधा है, अपितु यह वह शब्द है, जो अपने व्यक्तित्व और व्यापकत्व की स्वर्ण-प्रभा से नित्य-निरन्तर प्रदीप्तमान है और अनागत वेला में निर्धूम ज्योति-शिखा अहर्निश जगमगाती रहेगी तथा जन-मन को आनन्दित करेगी।

(2) अनुप्रेक्षा–'अणुप्पेहा' प्राकृत भाषा का एक अतिशय भावपूर्ण पारिभाषिक शब्द है। प्रस्तुत शब्द का प्रचुर प्राचीन समय से प्रयोग जैन आगम–वाङ्मय एवं अन्य जैन–साहित्य में बहुविध–परिप्रेक्ष्य में हुआ है। 'अणुप्पेहा' का 'संस्कृत रूपान्तरण' अनुप्रेक्षा बनता है। 'अनु' और 'प्र' इन दोनों उपसर्ग–पुरस्सर 'ईक्ष्' धातु से 'अनुप्रेक्षा' शब्द निष्पन्न होता है। जिसका आशय देखना है, गहराई के साथ–साथ देखना है और वह भी तटस्थता–पुरस्सर देखना है, केवल देखना है। उसमें कोई चिन्तन–मनन नहीं किया जाता है। एकमात्र प्रेक्षा ही होती है। द्वितीय शब्द 'अनुप्रेक्षा' प्रेक्षा के पूर्व 'अनु' उपसर्ग के प्रयुक्त होते ही 'प्रेक्षा' शब्द का आशय अथवा अभिप्रेत–अभिप्राय भी आमूल–चूल परिवर्तित हो गया है। उसमें चिन्तन और मनन का समावेश भी स्पष्टत: दिखाई देता है। इस प्रकार अनुप्रेक्षा शब्द का विशद एवं विस्तृत तात्पर्य पुन: पुन: देखना है। गहनता के साथ देखना है। चिन्तन–मनन की गहराई के साथ–साथ तटस्थता पुरस्सर देखना है। मन, चित्त और चैतन्य को उस विषय में रमाना है। उन संस्कारों को दृढ़ीभूत करना है। अनुप्रेक्षा का अर्थ–रूपात्मा यही है–सत्य को देखना। सत्य पर चिन्तन करना है। अपनी जो पूर्व–धारणाएँ हैं, उन्हें जड़मूल से निकालकर पूर्व संचित संस्कारों को हटाकर जो सत्यपूर्ण तथ्य है, वही यथार्थ है, वास्तविकता है, उसका चिन्तन करना 'अनुप्रेक्षा' है। सत्य के प्रति एकनिष्ठ बुद्धि से देखना 'अनुप्रेक्षा' है। अनुप्रेक्षा का सिद्धान्त सत्य–दर्शन का सम्पूर्ण सिद्धान्त है। अपनी समग्र पूर्वबद्ध धारणाओं और पूर्व संचित संस्कारों को नकार कर पूर्ण सत्य को ग्रहण करने का अजेय और शाश्वत सिद्धान्त है। अनुप्रेक्षा के माध्यम से व्यक्ति के व्यक्तित्व का आमूल–रूपान्तरण है।

'अनुप्रेक्षा' वस्तुत: वह स्वर्णद्वार है, जिससे प्रकाश अन्तर्जगत की ओर प्रवेश करता है, जिसके द्वारा अध्यात्मनिष्ठ साधक एक ऐसी भूमि का निर्माण करता है, जिसमें भव्य भाव के बीज बोये जाते हैं। अध्यात्म योग से अंकुरित बीज अनुप्रेक्षा के माध्यम से ध्यानयोग में सफलता का श्रीवरण करता है। ध्यानयोगी अनुप्रेक्षा के द्वारा भेद–विज्ञान को परिस्पष्ट करने में सर्वथा–समर्थ होता है। जब विवेक की चेतना का जागरण होता है, अप्रमत्तता रूप योग सध जाता है, तब निष्पत्ति के रूप में पूर्णता की प्रथम भूमिका उपलब्ध होती है। परिणामत: वह सत्य के प्रति सर्वात्मना समर्पित हो जाता है। सत्य को ही अपने मन में एवं अणु–अणु में रमाता है। इस सत्य को

मन-मस्तिष्क में रमाने के लिए वह द्वादश भावना को बार-बार चिन्तन करता है। समभावों की प्राप्ति निर्ममत्व भाव से और निर्ममत्व की जागृति द्वादश भावनाओं की अनुप्रेक्षा से भावित होती है। यह अति स्पष्ट है कि ज्ञान रहित दशा में आत्मा का मोक्ष सम्भव नहीं है। वैराग्य के बिना ज्ञान नहीं है और विचार के अभाव में वैराग्य नहीं, सुस्थिरता के बिना विचार भी नहीं है, विचार, चिन्तन-मनन के बिना अनुप्रेक्षा की कदापि उपलब्धि नहीं है। अनुप्रेक्षा के माध्यम से ही उपर्युक्त सम्बोध आत्मार्थी जीवों को प्राप्त होता है। अनुप्रेक्षा और भावना ये दोनों शब्द एकार्थवाची हैं। भावना, वैराग्य, चिन्तन-मनन, संवेग, निर्वेद, निदिध्यासन, धारणा, संस्कार इन सर्व शब्दों का भाव एक जैसा है। अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार प्रभृति द्वादश प्रकार के स्वरूपों का अनुप्रेक्षण अर्थात् अनुचिन्तन करना, स्मरण करना अथवा गहन-गम्भीरता से देखना 'अनुप्रेक्षा' है। अनुप्रेक्षा में वाणी नहीं, मुख्यत: मन ही गतिशील रहता है। वास्तव में मौनपूर्वक गम्भीर रूप से चिन्तन-मनन को अनुप्रेक्षा अथवा भावना कहना विषय के अनुरूप है और समुचित है।

यह भी स्पष्ट है कि भाव को पुन: पुन: भावित करने की अभिधा वास्तव में 'अनुप्रेक्षा' है। अनुप्रेक्षा होने पर ही हिंसात्मक कार्य अहिंसात्मक, पाप का कार्य पुण्यात्मक, बन्धन के कार्य निर्जरात्मक और आस्रव का कार्य संवरात्मक रूप में रूपान्तरित होता है। जहाँ-जहाँ संसार-अभिवृद्धि के सर्व कार्य अप्रतिबन्धात्मक रूप धारण करते हैं, वहाँ-वहाँ अनुप्रेक्षा की फलश्रुति का मूल्य और महत्त्व है। जिस प्रकार शत्रु-मित्र, विष-अमृत, राग-विराग में परिणत हो जाता है। उसी प्रकार ही अनुप्रेक्षा ध्यान में परिणत हो जाती है। यह भी पूर्णत: प्रगट है कि दुग्ध में घृत, मन्त्र में सिद्धि और औषध में चिकित्सा विद्यमान है, वैसे ही अनुप्रेक्षा में ध्यान तथा ध्यान में समाधि विद्यमान है। सारांश में यह कथन यथार्थता के सन्निकट है कि द्वादश अनुप्रेक्षा के माध्यम से सामान्य मानव को नैतिकता, प्रामाणिकता हिताहित के सापेक्ष तथा निरपेक्ष स्वरूप का यथार्थ निर्णय होता है। इस द्वादश अनुप्रेक्षा के प्रयोग से समता-योग की प्राप्ति होती है। एतदर्थ यह अनुप्रेक्षा ऐसा बीज है, जो पदार्थ का पदार्थ के रूप में, सत्य का सत्य के रूप में, आत्मा का आत्मा के रूप में बोध कराकर सम्यक् साधना में सफलता प्राप्त कराती है। वस्तु को वस्तु के रूप में यथार्थ रूप से जानना 'सम्यक्त्व' है। सत्य का बोध, जन्म-जरा और मृत्यु से सत्य-बोध करा सकता है, अनन्त अनुबन्ध से अप्रतिबन्ध करा सकता है। यात्रा प्रलम्ब है, रात्रि

विश्राम आवश्यक है। मार्ग का ज्ञाता भी मंजिल तक अवश्य पहुँच जाता है। वैसे द्वादश अनुप्रेक्षाएँ, सम्यग्दृष्टि आत्म-साधक के लिये विश्राम-स्थल अवश्य है, किन्तु मंजिल तक पहुँचने का उपाय भी है। इस उपाय के रूप 'द्वादश' अनुप्रेक्षाएँ हैं, इनका चिन्तन-मनन करना मोक्षमार्ग के लिये निर्णय स्वरूप है, अवलम्बन रूप है और प्रबल अनन्य साधन के स्वरूप में स्वीकार्य है।

यह पूर्णत: सुस्पष्ट है कि स्वाध्याय के पंचविध भेद में 'चतुर्थ प्रकार' अनुप्रेक्षा है। आध्यात्मिक अनुप्रेक्षा के माध्यम से स्वात्म तत्त्व का साक्षात्कार होता है। सत्ता का विशुद्ध स्वरूप अनुप्रेक्षा रूप आलम्बन से ही उपलब्ध होता है। निश्चय नय के आधार तत्त्वानुप्रेक्षा का साक्षात्कार करने वाला आत्म-साधक संयमीय मर्यादाओं के परिपालन में सावधान रहता है। तात्त्विक अनुभूति जब अतिशय रूप से गहरी होती है, तब अनुप्रेक्षा मन को एकाग्र करने की साधना में आधार-स्वरूप बन जाती है। एकाग्रचित्त से ज्ञात विषय का पुन: पुन: चिन्तन करना, अध्ययन करना, अनुशीलन करना 'अनुप्रेक्षा' है। निष्कर्ष यही है कि परितृप्त लोहपिण्ड के भीतर अग्नि का समावेश होता है, उसी प्रकार पठन-पाठन, श्रवण-ग्रहण किये हुए ज्ञानादि होने पर वह विषय वास्तव में आत्मसात् हो जाता है और चैतसिक मन से अभ्यस्त होकर उसमें संलग्न हो जाना 'अनुप्रेक्षा' है। अध्यात्म-योग की पूर्व भूमिका 'जप' है। अन्तिम भूमिका 'ध्यान' है। इस दृष्टिकोण से आत्मा की शुद्ध क्रिया 'अध्यात्म' है। शुद्ध क्रिया के माध्यम से ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार, इन पञ्चविध आचार के द्वारा अनुप्रेक्षा स्वत: हो जाती है। जैसे सूर्य की किरणों को काँच में संगृहित करने से अग्नि पैदा होती है, वैसे ही चैतन्य ऊर्जा का समूह एक आत्मबल समुत्पन्न करता है। निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि जो साधक अनुप्रेक्षा रूप रसायन से पूर्वत: भावित हो जाता है, वह भव-बन्ध के कारागृह से सर्वथा विमुक्त हो जाता है।

सारपूर्ण भाषा में यही कहा जा सकता है कि आगम और अनुप्रेक्षा ये दोनों शब्द रूप बिन्दु में अर्थ रूप जो सिन्धु समाहित है, उसे समझना वस्तुत: सहज-सरल नहीं है, तथापि यथामति के द्वारा इस दिशा में पदन्यास किया है। आत्म-विश्वास है कि स्वाध्यायशील अध्येताओं के लिये यह प्रयास शतांश रूपेण प्रयोग स्वरूप सिद्ध होगा।

आचार का शास्त्र : आचाराङ्गसूत्र

तत्त्वचिन्तक श्रद्धेय श्री प्रमोदमुनिजी म.सा.

मानव की मुक्ति पाने की आभ्यन्तर आकांक्षा का परिणाम है धर्म। अनन्त के प्रति प्रचण्ड भूख की बाह्य अभिव्यक्ति है-धर्म। उस धर्म के अनेकविध विभागों में एक विभाग भगवती सूत्र शतक 12 उद्देशक 1 के आधार पर चलने वाले जागरणा के तीन अधिकार में देखने को मिलता है। आचार धर्म, क्रिया धर्म, दया धर्म और स्वभाव धर्म के रूप में चार विभागों में सुन्दर विवेचना की गई। आचार धर्म के मुख्य पाँच भेद दिखाकर 39 उपभेद भी दिखाये गये-

(क) ज्ञानाचार के आठ प्रकार-काल, विनय, बहुमान, उपधान, अनिह्नव, व्यञ्जन, अर्थ, तदुभय।

(ख) दर्शनाचार के आठ प्रकार-निश्शंकित, निष्कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपबृंहण, स्थिरीकरण, वात्सल्य एवं प्रभावना।

(ग) चारित्राचार के आठ प्रकार-पाँच समिति, तीन गुप्ति।

(घ) तपाचार-बारह प्रकार का तप।

(ङ) वीर्याचार के तीन प्रकार-(1) धर्मकार्य में शक्ति का गोपन नहीं करना। (2) उपर्युक्त 39 बोलों में वीर्य प्रकट करना। (3) अन्य धार्मिक कार्यों में शक्ति लगाना।

दुराचार, भ्रष्टाचार, व्यभिचार, अनाचार, शिथिलाचार आदि शब्द हेय दृष्टि से देखे जाते हैं, कोई भी बुद्धिमान्, सज्जन, शिष्ट पुरुष अपने को इन दुर्गुणों से युक्त सम्बोधित कराना नहीं चाहता है। सदाचारी, शिष्टाचारी आदि का सर्वत्र सम्मान होता है जो यह सूचित करता है कि आचार प्रथम धर्म है, अस्तु शास्त्रों में उसी आचार शास्त्र को प्रथम स्थान प्राप्त होता है। महापुरुषों का फरमान है-'आचरण ही भक्ति का सक्रिय रूप है।'

पाँचों आचारों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन आचाराङ्ग सूत्र में उपलब्ध है। एक-एक उपविभाग के लिए प्रेरणास्पद सूत्र इस अङ्ग में देखे जा सकते हैं। आज उपलब्ध आचाराङ्ग सीमित गाथा वाला है, जबकि नन्दी सूत्र में 18,000 श्लोकों/गाथाओं

का उल्लेख है। सम्भवत: क्रमश: दुगुनी-दुगुनी श्लोक प्रमाण संख्या भी विचारणा हेतु विवश करती है-

(क) श्लोकों की वागरणा में तीन शून्य की समानता कैसे बनी रह सकती है?

(ख) वेद और पिटक के आकार में कटौती नहीं हुई तो जैनों के आगमों का ही इतना ह्रास क्यों हुआ?

(ग) देवर्द्धि गणी क्षमाश्रमण द्वारा वीर निर्वाण सम्वत् 980 से 993 तक आगमों का लेखन हुआ। 1030 में अर्थात् 40 वर्ष पश्चात् निर्युक्तियाँ रची गयीं। लगभग 70 से 120 वर्ष पश्चात् भाष्य, फिर चूर्णियाँ और लगभग 200-250 वर्ष पश्चात् टीकाएँ लिखी गईं।

निर्युक्तिकार, भाष्यकार, चूर्णिकार और टीकाकारों के समक्ष उपस्थित/उपलब्ध पाठ में अधिक अन्तर नहीं है। आज उपलब्ध पाठ ही उनके समक्ष उपलब्ध थे। लेखन के 40 वर्षों में अङ्ग साहित्य में इतना भीषण ह्रास कैसे सम्भव है?

(घ) लगभग 1500 वर्षों के पश्चात् भी निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, मूल आकार में उपलब्ध हो रही है तब आगम का बहुसंख्य भाग लिपिबद्ध होने के पश्चात् लुप्त कैसे हो गया?

अभिधा के स्थान पर लक्षणा के रूप में भी इन श्लोकों की संख्या का कथन होने से अनुमान को पुष्ट करने वाले इन प्रश्नों, इन तथ्यों से आगम के अधिक अंश के लुप्त होने की बात प्रारम्भिक ग्यारह अङ्गों पर प्राय: समझ में कम आती है। दृष्टिवाद के पूर्वों का ज्ञान शनै: शनै: लुप्त हो गया उस पर तो कोई व्याख्या मिलती भी नहीं है। विवाद के लिए यहाँ प्रयोजन नहीं है, हाँ आज भी जितना साहित्य हमारे पास उपलब्ध है वह हमें साधना-आराधना के लिए समुचित मार्गदर्शन प्रदान करने में समर्थ है।

निज विवेक के अनादर से अनाचार-दुराचार आदि का प्रसङ्ग बनता है। विवेक का प्रकाश जीवन में आचरित होता है, तब कोई सन्त कहलाता है, और विवेक का प्रकाश जब किसी लिपि में आबद्ध होता है तब ग्रन्थ कहलाता है। आचरण जीव में होता है, आचरण का विधान शब्दों में होता है। काल प्रभाव से स्मृति दौर्बल्य होने पर उन शब्दों को कागज पर उद्धृत कर दिया गया। आचार का वह ग्रन्थ, आचार का वह शास्त्र आचाराङ्ग नामक प्रथम अङ्ग कहलाया।

विवेक की चर्चा से आचाराङ्ग सूत्र प्रारम्भ होता है। निज विवेक के अनादर से देहाभिमान उत्पन्न होता है, देहाभिमान से कामना, कामना से क्षोभ तथा क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से स्मृति-भ्रंश होता है, अर्थात् विस्मृति होती है। विस्मृति मुख्यत: तीन प्रकार की होती है-

(i) स्वरूप की विस्मृति। (ii) कर्त्तव्य की विस्मृति।

(iii) प्रभु की विस्मृति।

प्रथम ज्ञान की विस्मृति है, द्वितीय चारित्र की विस्मृति है, तृतीय दर्शन सम्बन्धी विस्मृति है। 'स्वरूप की विस्मृति' पर प्रथम अध्ययन के प्रथम उद्देशक के प्रथम सूत्र में कहा गया-'इहमेगेसिं नो सन्ना भवइ' विवेक जागरण से स्वरूप की स्मृति की चर्चा सर्वप्रथम की गई।

इन्द्रिय-लोलपुता परिवर्तनशील-सुख की ओर तथा जितेन्द्रियता हित की ओर प्रेरित करती है। सुख और हित में एक बड़ा अन्तर यह है कि सुख-भोग वस्तुओं, व्यक्तियों, अवस्थाओं एवं परिस्थितियों के अधीन हो जाता है, अर्थात् उसकी स्वाधीनता पराधीनता में बदल जाती है। इतना ही नहीं, उसमें शक्तिहीनता, हृदयहीनता और परिच्छिन्नता आदि अनेक निर्बलताएँ अपने आप आ जाती हैं।

इस सुख-भोग की दासता निजस्वरूप पर दृढ़ आस्था के पूर्व समाप्त हो नहीं सकती। प्रथम अध्ययन में जीवों का स्वरूप बताकर उनके प्रति 'कर्त्तव्य की स्मृति' के लिए छह उद्देशक (दूसरे से सातवें तक) कहे। सेवा को 'चरणसत्तरी' में गिनाया अर्थात् सेवा प्रतिपल होती है। जगत की सेवा के लिए प्रेरणा दी गई-

(क) किसी का बुरा नहीं करूँगा। (ख) किसी का बुरा नहीं सोचूँगा।

(ग) किसी को बुरा नहीं समझूँगा।

दूसरा अध्ययन जितेन्द्रियता के लिए है। लोक विचय या लोक विजय नामक द्वितीय अध्ययन हिंसा के मूल कारणों को, आन्तरिक वृत्तियों को दिग्दर्शित कर रहा है। कर्त्तव्य की स्मृति के साथ स्वरूप की स्मृति भी करा रहा है-अपने को बुराई रहित कर लेना स्वरूप की, स्वयं की स्मृति है। इन्द्रियों के विषय-सेवन से इन्द्रियों की शक्ति क्षीण होती है, निर्बलता आती है। वस्तुओं की गुलामी करनी पड़ती है, जड़ता आती है, पराधीनता आती है, संसार के दु:ख बढ़ते ही जाते हैं।

परन्तु जब तक स्वार्थ-भाव निर्मूल नहीं हो जाता, तब तक जितेन्द्रियता की

उत्कृष्ट लालसा जाग्रत नहीं होती, जिसके बिना मानव सत्पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता। इस दृष्टि से स्वार्थ-भाव का अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र सेवा से साध्य है। सेवा की अभिव्यक्ति दु:खियों को देख करुणित और सुखियों को देख प्रसन्न होने में ही निहित है। सेवा के बिना सुखासक्ति निर्मूल नहीं होती, कारण कि सुख का सद्व्यय सेवा द्वारा ही सम्भव है। सेवाभाव उदित होते ही प्राणि-मात्र से एकता हो जाती है, जिसके होते ही दु:खियों को देख सेवक का हृदय करुणा से परिपूर्ण होता है और फिर सेवक प्राप्त सुख को आदर पूर्वक दु:खियों को भेंट कर देता है।

छह काय के जीवों को अपने समान देखने वाला साधक, उनकी वेदना को अपनी वेदना के रूप में अनुभव करता हुआ जागरूक बना रहता है। प्रथम अध्ययन में प्रेरक सूत्रों से इस सत्य को उजागर कर द्वितीय अध्ययन में जितेन्द्रिय बनने के लिए सारगर्भित प्रेरणा प्रदान की गई। संसार के सुख प्राय: किसी न किसी जीव की पीड़ा, दु:ख अथवा मरण से प्राप्त होते हैं। हरी घास पर चलना हो, तरण-तालाब में तैरना हो, घूमने-फिरने दर्शनीय स्थलों पर जाना हो, तड़कीले-भड़कीले परिधान लेने हों, रसना को विविध व्यञ्जनों से पुष्ट करना हो-

किसी न किसी का होता है स्वाह
तभी संसार में मिलती है वाह
कालान्तर में बदल जाती है वो वाह
और पीड़ा से निकलती है आह!

जीव का विशिष्ट गुण 'उपयोग' बताया गया है। जीव का एक प्रदेश भी कभी अन्य प्रदेशों से छिटककर अलग नहीं हो सकता और जीव के एक प्रदेश का भी कोई नवीन रूप से उत्पादन नहीं कर सकता। किन्तु रूपी-अजीव अर्थात् पुद्गल की दशा कुछ अलग है। परमाणुओं का निर्माण तो कोई नहीं कर सकता, किन्तु परमाणु के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श में स्वाभाविक रूप से परिवर्तन हो सकता है। जुड़कर के द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी यावत् अनन्त प्रदेशी स्कन्ध के रूप में परिणत हो जाता है। संसारी जीव द्वारा गृहीत होने पर प्रयोग परिणत तथा जीव द्वारा छोड़ने पर फिर स्वाभाविक परिणति से परिणत होता रहता है। इन विविध पर्यायों की अपेक्षा, जीव के साथ संयोग-वियोग की अपेक्षा, उत्पाद-व्यय की स्थूल परिणति की अपेक्षा, उनकी अनित्यता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। वह उत्पन्न होता है, नष्ट होता है, देश

तथा काल से जीव से दूर भी होता है और उपयोग गुण से तो सर्वथा शून्य ही है। इस दृष्टि से बाहरी वस्तुओं की तो कौन कहे शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, द्रव्य प्राण आदि सभी जीव से कथंचित् जुड़े हुए उस पुद्गल की ही परिणति हैं अर्थात् ये सभी पर हैं। पर में स्व की बुद्धि मिथ्यात्व है। पर में सुख की अभिलाषा, सुखासक्ति, पर से स्व का मूल्यांकन आदि मोहनीय कर्म से उत्पन्न हुए विकार मात्र हैं।

अनादि काल से संसारी जीव के साथ कामना, इच्छा, वासना, संकल्प-विकल्पों का जाल ये सब मोहनीय कर्म की विविध अवस्थाएँ हैं। यही भाव लोक, क्षेत्र लोक में संसरण कराता है, भव-भ्रमण कराता है। इसी पर गहराई से चिन्तन करके, अनुप्रेक्षा करके लोक-विचय द्वारा लोक पर विजय करने का सुन्दर मार्ग द्वितीय अध्ययन में प्रतिपादित हुआ है। लोक के अग्र भाग पर जाना अर्थात् इस सारे प्रपञ्च से मुक्त होकर पार पहुँच जाना है।

द्वितीय अध्ययन में अपने सुख-सम्पादन के लिए दूसरों को कष्ट देने का निषेध किया। लोक-विचय या लोक-विजय से कामना-निवारण, व्युत्सृष्ट काय की चर्चा हुई, अब आगे बढ़ते हुए साधक को अपने दु:खों के निवारण के लिए भी औरों को दु:ख नहीं देने की हित-शिक्षा फरमाई गई है। ममता त्याग कर 'चत्तदेहे' अर्थात् त्यक्त देह के विशेषण को परिपुष्ट करने के लिए, आत्मरस में आप्लावित होने के लिए महत्त्वपूर्ण प्रेरणा प्रदान की गई है। इसी प्रकार अन्य अध्ययन भी प्रभु महावीर की वाणी से ओतप्रोत हैं एवं साधक का मार्गदर्शन करते हैं।

प्रभु महावीर ने पूर्णता प्राप्त की। मोहनीय कर्म के बन्धनों से छुटकारा पाकर अन्तर्मुहूर्त्त में तीन घाती कर्मों का क्षय होने पर केवलज्ञान, केवलदर्शन की ज्योति प्रकट हुई। ऐसे पूर्ण पुरुषों के भीतर में दु:खी प्राणियों के प्रति आश्चर्यजनक करुणा प्रस्फुटित होती है। जैसा कि प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा गया- सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए भगवया पावयणं सुकहियं अर्थात् समस्त जगत के जीवों के रक्षण और दया के लिए भगवान ने प्रवचन फरमाया। पर वैशाख शुक्ला दशमी को धर्म के प्रथम अंग आचरण की भूमिका में आगे बढ़ने वाला कोई समर्थ पुरुष नहीं होने से अनन्त उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी के बाद होने वाला आश्चर्य घटित हो गया। वैशाख शुक्ला एकादशी को योग्य पात्र उपलब्ध हुए इन्द्रभूति गौतम आदि, पर सबके भीतर संशयमिथ्यात्व जीवित था, वेद के वाक्यों के अर्थों की स्पष्टता के अभाव में भ्रान्ति-युक्त वे ग्यारह ब्राह्मण प्रकाण्ड पण्डित अपने 4,400 शिष्यों के

साथ क्रमशः उपस्थित होते गये। उन ग्यारह ही पण्डितों की शंकाओं का भगवान ने निराकरण किया। क्या आत्मा कूटस्थ नित्य जैसे एक ही रहती है अथवा प्रतिक्षण नष्ट होकर नवीन-नवीन उत्पन्न होती है अथवा इन दोनों का मिलाजुला कोई तीसरा रूप हो सकता है। भगवान मातृका पद के तीन ही शब्दों का उच्चारण करते हैं- उप्पनेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा-उत्पन्न होता है, नष्ट होता है, ध्रुव रहता है। इस त्रिपदी से एकान्त नित्य एवं एकान्त अनित्य मानने वाले दार्शनिकों की मान्यताओं का निराकरण हो गया।

दुःखों से पूरी तरह छुटकारा तभी सम्भव है जब दुःख के मूल को जाना जाए। साता लोलुपता, सुखासक्ति, सुख की दासता आदि अनेक नामों से इसे कहा गया। उत्तराध्ययन सूत्र के 29वें अध्ययन की गाथा 3 में सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ। कथन भी साता के सुखों से विरक्ति का सन्देश देता है। दशैवकालिक सूत्र के चतुर्थ अध्ययन की गाथा 20 में सुहसायगस्स समणस्स..... आदि शब्दों से भी विरक्ति को सूचित किया गया। वीतराग वाणी में दुःखों से छुटकारों के तरीकों को भिन्न-भिन्न रूपों में अभिव्यक्त किया गया। उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन 4 की गाथा 8 में छंदं निरोहेणं उवेइ मोक्खं के द्वारा स्वच्छन्दता के त्याग को मुक्तिप्राप्ति का मात्र एक उपाय कह दिया। दो प्रकार के रूप में विशेषावश्यक भाष्य में नाणकिरियाहिं मोक्खो। अथवा दशवैकालिक सूत्र के चतुर्थ अध्ययन की गाथा 11 में पढमं नाणं तओ दया कह दिया गया। तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्ययन में सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः के रूप में त्रिविध उपाय की चर्चा हुई तो उत्तराध्ययन सूत्र 28/2 में नाणं च दसंण चेव चरित्तं च तवो तहा। गाथा में तप को सम्मिलित कर चार उपाय के रूप में कह दिया गया। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्याचार के रूप में पाँच प्रकार से इसी मार्ग को विश्लेषित किया गया। नन्दी सूत्र और समवायांग सूत्र में इन्हीं पाँचों को संक्षेप से विवेचित करने वाले अंग को आचारांग कहा है।

दुःखों के कारण व छुटकारे के उपाय, इन दोनों को समाविष्ट कर सूत्र रूप से अभिव्यक्ति करने वाला अंग है आचारांग। कहीं प्रवृत्ति की निर्दोषता से प्रारम्भ कर परिणामों की शुद्धि की चर्चा हुई। कहीं प्ररूपणा की गलती से विपरीत प्रवृत्ति का कथन हुआ। कहीं श्रद्धा की मजबूती से मोक्ष-मंजिल-प्राप्ति की चर्चा की गयी। रोगी का समुचित परीक्षण करके वैद्य किसी को वमन, विरेचन कराकर उपचार करता है। किसी को प्रारम्भिक पुष्टि कराकर औषधोपचार करता है। किसी को लंघन का

उपाय, तो किसी को प्रचुर मात्रा में आहार करने का उपाय भी बताता है। शरीर के रोग की अपेक्षा अन्तर के रोग भयंकर हैं, अनादिकाल से हैं, गहरी जड़ जमाये हुए हैं और विविध रूप में अभिव्यक्त होते हैं। उन सबके निराकरण के लिए आचारांग की शैली विविधता को लिए हुए है। कहीं दु:ख के कारण को पहले बताकर, हिंसा के ताण्डव को दिखाकर फिर छुटकारे की चर्चा है; तो कहीं अहिंसा भगवती की महिमा को गाकर फिर हिंसा से बचने की प्रेरणा है। किसी सूत्र में आत्मा की गौरव गाथा को गाकर फिर कर्म से बचने का उल्लेख है तो किसी सूत्र में कर्मों के कारणों को दिखाकर उनसे उपरत होने की बात कही है। एक ही तरह के सूत्र भिन्न-भिन्न अध्ययनों एवं उद्देशकों में अनेक बार देखने को मिलते हैं। इसमें कोई पुनरावर्तन का दोष नहीं है। इस मोहनीय कर्म की विराट् सेना को पराभूत करने के लिए अनेक दृष्टिकोणों से अमोघ उपाय सुझाए गये हैं। हमें उन उपायों का अनुसरण कर शीघ्र ही इस भव-रोग से छुट्टी लेनी चाहिए।

त्रिपदी के स्वरों में प्रतिपादित पर्याय से उत्पाद-व्यय एवं द्रव्य से ध्रौव्य का स्वरूप जैनदर्शन के विकास का आधार बना है। सम्पूर्ण सृष्टि में यह नियम अनवरत अबाधित चल रहा, पल रहा, फल रहा है, फूल रहा है। सक्रिय द्रव्यों में द्रव्यत्व गुण के आधार पर प्रतिपल पर्यायों का परिवर्तन हो रहा है, वस्तुत्व गुण के कारण सार्थक क्रिया हो रही है फिर भी अगुरुलघुत्व गुण के कारण वे अपने मूल रूप का कभी भी परित्याग नहीं कर सकते। पर्याययुक्त द्रव्यत्व और वस्तुत्व गुण जहाँ उत्पाद, व्यय को द्योतित कर रहे हैं वहीं अस्तित्व, अगुरुलघुत्व ध्रौव्य गुण के संसूचक हैं। पर परिणति में परिणत नहीं होने पर भी वे द्रव्य एक-दूसरे को प्रभावित तो करते ही रहते हैं। सम्पूर्ण बन्धनों से छुटकारा पाने वाला जीव भी गति सहायक धर्म के अभाव से अलोक में नहीं जा सकता, स्थिरता सहायक अधर्मास्तिकाय अनन्त काल तक उसे लोकाग्र पर टिकाकर रखने में सहायक बन ही रहा है। निष्क्रिय द्रव्यों का भी जब सहकार मिलता ही है तब सक्रिय द्रव्य तो विस्फुरा शक्ति के कारण एक-दूसरे को इतने प्रभावित कर बैठते हैं कि जीवों के द्वारा प्रयोग परिणत पुद्गल काया, वचन, मन, श्वास, लेश्या, कर्म आदि अनेक रूपों में विकृति को प्राप्त करते हैं और कर्मों से गृहीत पुद्गल से परिणत होता हुआ यह जीव चार गति 24 दण्डक में परिभ्रमण करता रहता है। स्वभाव से अरूपी होने वाला जीव भी कथञ्चित् रूपी बन जाता है। कर्म उदय को ही अपना स्वरूप मानकर साता-असाता से अभिन्न होकर अपने को सुखी-दु:खी मानने लगता है।

बाहर में जैसे आतंकवादी कार्य कर रहे हैं, विनाश कर रहे हैं, मौत का वरण करते हैं वैसे ही भीतर में मोहनीय कर्म का आतंक इस जीव का भयंकर विनाश करता है। उत्तराध्ययनसूत्र के छट्ठे अध्ययन की गाथा 1 के अनुसार वह अविद्यावान पुरुष संसार में बार-बार लुप्त होता है, विलुप्त होता है। आचाराङ्गसूत्र के सूत्रों में प्राय: आर्त्त की चर्चा, आवर्त्त की चर्चा अथवा आतंक की चर्चा हुई है। अर्थात् रोग को, बीमारी को, दु:ख को दिखाया गया है, फिर उसको दूर करने के उपाय को दर्शाया गया है तो कहीं-कहीं साधक के गुणों को या अणगार के वैशिष्ट्य को दिखाकर उसमें पुरुषार्थ को, उसके सामर्थ्य को नवीन-नवीन ऊँचाइयाँ प्रदान की गई हैं।

आतंकदर्शी आतंक में अपने अहित को जानता है। जो आतंक बाहर में विनाश कर रहा है उससे भीषण मोह का आतंक भीतर में अनादि काल से विनाश कर रहा है। अथवा यों कहें कि भीतर का आतंक ही बाहर में आतंक मचा रहा है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के नियम को चरितार्थ कर रहा है। नक्सलवादियों की हिंसा, माओवादियों की हिंसा, भिन्न-भिन्न मज़हब, भिन्न-भिन्न धर्म के आतंकवादियों की चर्चा सारी दुनिया में हो रही है। प्रत्येक सहृदय इन्सान इस हिंसा की निन्दा करता है, हिंसा से उपरत होने की भावना रखता है। किन्तु कोई विचक्षण विरलविभूति दुसम्बोध से रहित हलुकर्मी मानव इस बाहर के आतंक को देखकर भीतर के आतंक का अन्वेषण करता है।

जिनवाणी के प्रति अश्रद्धा रखने वाले कतिपय दार्शनिकों ने पाँच स्थावरों में जीव मानने का बहुत उपहास उड़ाया। आज से लगभग सवा सौ वर्ष पूर्व तक वनस्पति में भी जीव नहीं माना जाता था। किन्तु भारतीय वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बोस की खोज के पश्चात् सामान्यजन वनस्पति में जीव मानने लगा। विज्ञान के इस आविष्कार से सर्वज्ञों की वाणी की महत्ता परिपुष्ट हुई।

आज पर्यावरण प्रदूषण विश्व की सबसे बड़ी समस्या है। इस समस्या के निराकरण के लिए भगवान ने वीतराग वाणी में 2,500 वर्ष पहले ही चेता रखा है। जल में जीवन है, उसका संरक्षण आवश्यक है। इसके अति सुन्दर परिणाम सामने आये एवं जल का दुरुपयोग रुका। दुनिया में जल को लेकर तीसरा विश्व युद्ध होने का जो खतरा मण्डरा रहा है, उसका समाधान इस वाणी के आधार पर निकलने की सम्भावना लगने लगी है।

आचाराङ्गसूत्र में संयम

-डॉ. विनोद कुमार जैन, जयपुर

संयम एक ऐसा गुण है जो व्यक्ति के जीवन को खुशियों एवं सुखों से भर देता है। इन्द्रिय संयम, वाणी का संयम, मन का संयम ही व्यक्ति को महान बनाता है। संयम संस्कृति का मूल है। विलासिता, निर्बलता और अनुकरण के वातावरण से न संस्कृति का उदय होता है और न विकास। संयम के आधार पर निर्मित संस्कृति प्रभावशाली और दीर्घजीवी होती है।

संयम क्या है?

आत्मज्ञानी और संयमी पुरुषों को न तो विषयों में आसक्ति होती है और न ही वे विषयों के लिए युक्ति करते हैं। बाहरी किन्हीं विशेष कारणों से किया गया संयम वास्तविक संयम नहीं है। असली संयम का सम्बन्ध भीतरी समझ से होता है।

संयम का अर्थ है-अपनी बिखरी शक्ति को एक निश्चित दिशा देना। लक्ष्य का निश्चय होते ही ऐसे पदार्थ और व्यक्ति निरर्थक लगने लगते हैं, जो लक्ष्य-प्राप्ति में सहायक नहीं होते, बल्कि बाधक होते हैं। इस सन्दर्भ में की जाने वाली सतत विचार प्रक्रिया सहज संयम का कारण बनती है।

संयम का अर्थ है-सदा सचेत रहना कि अन्त:स्थल में क्या घट रहा है? अविवेकी व्यक्ति संयम पर भाषण दे सकता है, संयम की मिठास भी नहीं चख सकता जबकि यह मिठास आँवले की मिठास की तरह पुष्टिकारक तथा रोगों का निवारण करने वाली होती है।

जिसे नहीं करना चाहिए उस ओर जब मन आकृष्ट हो जाए और हम उसे प्रयासपूर्वक रोंके, तो वह संयम है।

संयमित क्यों रहना चाहिए?

हमेशा ध्यान रखें कि संयम इन्सान का बेहतरीन गुण है। जो व्यक्ति संयम नहीं रखता उसके निर्णय, उसकी इच्छाएँ बदलती रहती हैं और परीक्षा के क्षणों में वह

निर्बल साबित होता है। धन अच्छे कार्यों से उत्पन्न होता है। हिम्मत, योग्यता, विद्वता, वेग, दृढ़ता से बढ़ता है, चतुराई से फलता-फूलता है और संयम से सुरक्षित होता है। इसलिए हमेशा संयमित रहना चाहिए।

तप को सार्थक बनाने के लिए संयम की आवश्यकता है और संयम की स्थिरता के लिए तप की अनिवार्यता है। जिस प्रकार स्वर्ण की अंगूठी में जड़ा हुआ नगीना स्वर्ण से शोभा पाता है और स्वर्ण नगीने से शोभा पाता है। जिस प्रकार जल की शोभा कमल से है और कमल की शोभा जल से है। इसी प्रकार तप की शोभा संयम से है और संयम की शोभा तप से होती है। आचाराङ्गसूत्र के चतुर्थ अध्ययन के चतुर्थ उद्देशक के प्रथम सूत्रानुसार

आवीलए, पवीलए, निप्पीलए जहित्ता, पुव्वसंजोगं हिच्चा उवसमं।।

साधक, पहले पूर्व संयोगों को छोड़कर उपशम को प्राप्त करके (मन, वचन और काय योग का दमन करने के लिए) आपीड़न करे (थोड़ा तप करे), और आगे निष्पीड़न करे (उससे भी उत्कृष्ट अर्थात् घोर तपश्चर्या करे)।

व्यक्तियों का संयोग छूटना ही पर्याप्त नहीं है, अपने भीतर की ज्वाला को भी शान्त करना आवश्यक है। तेज उबलता हुआ जल जिसमें भाप उठ रही है उसमें स्वयं का प्रतिबिम्ब नहीं देखा जा सकता, इसके लिए पानी का शीतल व शान्त होना आवश्यक है, वैसे ही निज-दर्शन के लिए अन्तर का भी उपशान्त व स्थिर होना आवश्यक है।

संयमी की महिमा

तम्हा अविमणे वीरे, सारए सामिए सहिए सया जए, दुरणुचरो मग्गो वीराणं अनियट्टगाणं, विगिंच मंससोणियं।।-आचाराङ्गसूत्र 1/4/4/26

आचाराङ्ग के उपर्युक्त सूत्र में संयमी की विशेषताओं को बताते हुए तीन प्रेरणाएँ दी गई हैं-(1) प्रथम प्रेरणा यह है कि संयमी सदा ही संयम में संलग्न रहे। साधक की साधना नियमित तथा निरन्तर हो तभी उसकी लम्बी यात्रा तय हो सकती है। वह साधक संयम में तभी रत रह सकता है जब वह सदा प्रसन्नचित्त वाला हो अर्थात् मन में क्षोभ, खिन्नता, वैर आदि विषाद न हों। वह पराक्रमी **वीर**-साधना के मध्य आगे कष्टों में घबराने वाला न हो, **समित**-सम्यक् प्रवृत्ति वाला हो अर्थात्

उसकी प्रवृत्ति भी निवृत्ति के लिए ही हो, **सहित**–जीव हिंसा न करता हो, सहिष्णु हो, ज्ञानादि से युक्त हो।

(2) द्वितीय प्रेरणा यह है कि मोक्षमार्ग दुष्करता से आचरित है, क्योंकि मनुष्य–देह बिना मुक्ति नहीं और देहासक्ति छोड़े बिना भी मुक्ति नहीं। यहाँ परानुशासन नहीं स्वानुशासन करना होता है। इसमें विकल्प नहीं होते हैं, इस पर निरन्तर समर्पण रखना होता है, कष्टों में भी निष्प्रकम्प रहना होता है। यहाँ बुद्धि नहीं शुद्धि का महत्त्व अधिक है, यह मार्ग सूक्ष्म है, जड़ता की स्थिति में तो इसे समझना भी क्लिष्ट है। इस मार्ग पर टिके रहने के लिए व बढ़ने के लिए अनन्त पुरुषार्थ, लक्ष्य पर सतत दृष्टि व अनन्त धैर्य चाहिए। फिर भी अनेक साधकों के द्वारा यह मार्ग आचरित है। अत: साधक को उत्साह बनाये रखना चाहिए।

(3) तृतीय प्रेरणा यह है कि मोक्ष का एक बाह्य साधन देह है। कहीं इस लोकरूपी नाव पर भी आसक्ति न हो जाए, इसलिए ज्ञानी भगवन फरमाते हैं कि देह से मुक्ति नहीं मिलती, देहासक्ति छोड़ने से मुक्ति मिलती है। साधक संकल्पबद्ध हो– 'चएज्ज देहं न हु धम्मसायणं' देह का त्याग कर दे, पर धर्मशासन का नहीं। देह में मांस व रक्त के बहने से कामासक्ति बढ़ जाती है, अत: कामसंज्ञा को जीतने का उपाय है देह का अपचय करना।

दशवैकालिकसूत्र भी समझाता है, राग जीतने का उपाय है मानसिक भावना और सफलता न मिले तो देह आतापना, तब भी सफल न हो तो 'सेयं ते मरणं भवे' मरण ही श्रेयस्कर है, जो साधक के लिए प्रकाशस्तम्भ है।

संयमित न रहने से क्या होता है ?

असंयमी व्यक्ति जानवरों से भी गया बीता होता है। जानवर भी भोजन और वासनापूर्ति में कुछ संयम रखते हैं, किन्तु मनुष्य बुद्धिमान होकर भी आहार–विहार में बड़े असंयमी होते हैं, जिससे वे बीमार होते हैं।

संयम एक ऐसा अंकुश है जो हमें विवेक और सत्य के पथ पर आरूढ़ रखता है। संयमी साधक आत्म–तत्त्व की अनुभूति कर पाता है। इन्द्रियाँ शिथिल हो जाएँ, लेकिन मन से वासना न जाए, ऐसी स्थिति में असंयमी व्यक्ति अत्यन्त हास्यास्पद हो जाता है। ऐसा व्यक्ति अपने जीवन को नरक बना लेता है।

क्या आप जानते हैं ? (आचाराङ्गसूत्र महिमा)

-श्री धर्मचन्द जैन, जोधपुर

1. आचाराङ्गसूत्र अध्यात्म साधना का अक्षय कोष है। यह आत्मिक विशुद्धि के उपायों की चर्चा,उसके साधक एवं बाधक कारणों का विस्तृत विवेचन करते हुए आत्मा को ऊर्ध्वमुखी बनाने की पग-पग प्रेरणा प्रदान करता है।
2. आत्म-साधना में सबसे बड़ी बाधा इच्छा, वासना, कामना है। काम-भोगों में आसक्त पुरुष पुनः पुनः संसार में जन्म-मरण करता रहता है। जिन्होंने काम-भोगों से मुक्ति प्राप्त कर ली, उसे ही वीर कहा है, उसी की प्रशंसा की गई है।
3. जो आत्मदर्शी साधक होता है उसकी यह विशेषता बतलायी कि वह सम्पन्न व्यक्ति को जिस प्रकार से धर्म-उपदेश देता है, उसी प्रकार से दरिद्र को भी धर्म का उपदेश देता है। जिन्होंने सम्पूर्ण सत्य का साक्षात्कार कर लिया है, उस दृष्टा भाव में जीने वाले साधक को उपदेश/निर्देश आदि देने की आवश्यकता नहीं होती है।
4. माया और प्रमाद के वशीभूत बना हुआ जीव बार-बार जन्म लेता है, गर्भ में आता है, दुःखी बनता है। सुखी बनने का मार्ग अप्रमत्तता को धारण करने से ही प्राप्त होता है।
5. जो कर्मबन्ध के स्थान हैं, दृष्टि सही होने पर वे ही कर्म निर्जरा के स्थान बन जाते हैं। जो कर्म निर्जरा के स्थान हैं वे दृष्टि की विपरीतता होने पर कर्मबन्ध के स्थान बन जाते हैं। इसलिए कहा जात है कि सम्यक् सोच, सकारात्मक सोच, सही श्रद्धान, स्व-पर का भेद ज्ञान, जीवन-विकास के मूलभूत स्तम्भ हैं।
6. आचारांग निर्युक्ति में आचारांग के दस पर्यायवाची नाम बतलाये गये हैं-

   (1) आयार-आचरण योग्य बातों का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र होने से आचार कहा है। **(2) आचाल**-घोर चिकने-गाढे अशुभ कर्मों के बन्ध को भी चलित कर देता है, इसलिये इसे आचाल कहा है। **(3) आगाल**-आत्मा की चेतना को समता के धरातल पर स्थित कर देता है, इसलिये इसे

आगाल कहा है। **(4) आगर**–आत्मा की शुद्धि करने वाले रत्नों को उत्पन्न करने के कारण इसे आगर (आकर) कहा है। **(5) आसास**–संत्रस्त चेतना को आश्वस्त, विश्वास और हिम्मत प्रदान करने के कारण इसे आसास कहा है। **(6) आयरिस**–इसमें करणीय कार्यों का भली-भाँति स्वरूप देखा जाता है, अत: यह आदर्श है। **(7) अंग**–अन्तर की गहराइयों में रहे हुए अहिंसा, समता, वीतरागता आदि के भावों को प्रकट करता है, अत: इसे अंग कहा गया है। **(8) आइण्ण**–इस आगम में आचरणीय श्रुत एवं चारित्र धर्म का प्रतिपादन किया है, अत: यह आचीर्ण है। **(9) आजाइ**–इससे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्याचार की उत्पत्ति होती है, इसलिये आजाति कहा है। **(10) आमोक्ख**–सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्तिप्राप्ति का इसमें साधन निरूपित होने से इसे आमोक्ष कहा है।

7. इसके प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम शस्त्र परिज्ञा अध्ययन में द्रव्य-भावों शस्त्र की जानकारी देते हुए अपनी आत्मा को उन सभी शस्त्रों से बचने की प्रभावी प्रेरणा दी गई है। मैं कौन? इस प्रश्न से अपने-आपके वास्तविक स्वरूप से परिचित होने का अमिट सन्देश दिया है। छह काय के जीवों की हिंसा करने के कारण बतलाते हुए उनसे बचने हेतु साधक को प्रेरित किया गया है।

8. लोक विजय नामक द्वितीय अध्ययन में पराक्रम, पुरुषार्थ तथा आत्म नियन्त्रण करते हुए कषायी रूपी भाव लोक को जीतने की प्रेरणा दी गई है। लोक के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भय और पर्याय, इस प्रकार आठ प्रकार बतलाये गये हैं। शरीर के क्षणभंगुर, ज्ञातिजनों की अशरणता तथा पदार्थों की अनित्यता आदि का विचार करते हुए साधक को आसक्ति के बन्धन तोड़ने की हृदयस्पर्शी प्रेरणा दी गई है।

9. शीतोष्णीय नामक तृतीय अध्ययन में शीत तथा उष्ण परीषह आदि को समभावपूर्वक सहन करने की प्रेरणा है। शीत अर्थात् अनुकूल (स्त्री और सत्कार पुरस्कार) उष्ण अर्थात् प्रतिकूल (शेष 20 परीषह) बतलाये हैं। शीत से तात्पर्य यहाँ भावशीत अर्थात् जीव का परिणाम-चिन्तन विशेष ग्रहण किया है। भावशीत के मन्द परिणाम, प्रमाद, विरति और सुख, ये चार प्रकार बतलाये हैं। भाव उष्ण के (1) तीव्र दुस्सह परिणाम, (2) तपस्या में उद्यम, (3) क्रोधादि कषाय, (4) शोक, (5) मानसिक पीड़ा, (6) वेद-विकार,

(7) अरति और (8) असाता जन्य दु:ख, ये आठ प्रकार बतलाये गये हैं। विशेषकर इस अध्ययन में सहिष्णुता और अप्रमत्तता का सन्देश है।

10. सम्यक्त्व नामक चतुर्थ अध्ययन में आध्यात्मिक जीवन से सम्बन्धित वास्तविक सच्चाइयों एवं वस्तु तत्त्वों का विवेचन किया है। मोक्ष के चार अंग- सम्यक् ज्ञान, सम्यक दर्शन, सम्यक चारित्र तथा सम्यक् तप का प्रतिपादन करना इस अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य है।

निर्युक्तिकार ने दर्शन और चारित्र के- औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक, ये तीन-तीन भेद बतलाये हैं, किन्तु ज्ञान के क्षायोपशमिक और क्षायिक, ये दो भेद बतलाये हैं, इसका कारण यह है कि ज्ञानावरणीय कर्म का उपशम नहीं होता, इसलिये औपशमिक भेद नहीं बनता है।

11. लोकसार नामक पाँचवें अध्ययन में लोक का अनेक दृष्टियों से विवेचन किया है। जैसे- नाम लोक, स्थापना लोक, द्रव्य लोक, भाव लोक। लोक का सार, परमात्म पद-मोक्षप्राप्ति को बतलाया है तथा इसके साधन धर्म, ज्ञान, दर्शन, चारित्र (अहिंसादि), तप, संयम, समत्व आदि बतलाये हैं।

लोकसार अध्ययन का उद्देश्य आस्रव, बन्ध, पाप, असंयम, अज्ञान और मिथ्यादर्शन आदि का स्वरूप तथा इनके परिणामों को भली-भाँति जानकर इनका त्याग करना तथा परमात्म पद को प्राप्त करना बतलाया है। निर्युक्तिकार ने लोक का सार धर्म, धर्म का सार ज्ञान, ज्ञान का सार संयम तथा संयम का सार निर्वाण को बतलाया है।

12. धूत नामक छठे अध्ययन में कर्मबन्धनों से मुक्त बनने की सरल प्रेरणा दी गई है। धूत का अर्थ है-धुलना, शुद्ध होना। वस्त्रादि पर से धूल आदि झाड़कर उसे साफ करना द्रव्य धूत है तथा अष्टविध कर्मों को धुनना, दूर हटाना भाव धूत कहलाता है।

इस अध्ययन में विभिन्न पहलुओं से परिवारजनों की तथा उपकरण आदि विभिन्न पदार्थों की आसक्ति छोड़ते हुए उनके त्याग करने की बात बतलाई गयी है। सरल भाषा में धूत का अर्थ है- कर्मरज से रहित निर्मल आत्मा अथवा संसार के विषय-भोगों का त्यागी अनगार।

13. महापरिज्ञा नामक सातवें अध्ययन में मोह के कारण उत्पन्न होने वाली

आकांक्षाओं, कामनाओं, विषय-भोगों आदि के दुष्परिणामों को जानकर उनको समाप्त करने के लिये महाव्रत, समिति गुप्ति, कषायविजय, तप, संयम, स्वाध्याय तथा आत्मलोचन करने की पुरजोर प्रेरणा प्राप्त होती है।

संयमादि गुणों से युक्त साधक की साधना में कदाचित् मोहजन्य परीषह अथवा उपसर्ग आ जाये तो उन्हें समभाव पूर्वक सहन करने की शिक्षा इस अध्ययन से प्राप्त होती है। इस अध्ययन में कुछ मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र, विद्या आदि के प्रयोग साधक को संयम में स्थिर रखने हेतु बतलाये गये थे, किन्तु आगे चलकर इनका दुरुपयोग होता देखकर उन्हें विच्छिन्न कर दिया गया है।

14. विमोक्ष नामक आठवें अध्ययन में मोह से रहित हो जाने, मोह का क्षय कर देने की बात कही गई है। बेड़ी आदि बन्धनों से छूटना द्रव्य मोक्ष तथा कषायों अथवा कर्मों के बन्धनों से आत्मा को सर्वथा मुक्त कर देना, भाव विमोक्ष बतलाया है।

मोहनीय कर्म की सभी प्रकृतियों का क्षय कर देना देश विमोक्ष तथा आठों ही कर्मों का क्षय कर देना सर्वविमोक्ष कहलाता है। इस अध्ययन में भक्त प्रत्याख्यान, इंगित मरण तथा पादपोपगमन, इन तीन समाधिमरण का भी विस्तार से वर्णन किया गया है, जो प्रत्येक समाधिमरण के इच्छुक साधक के लिये पठनीय, मननीय और आचरणीय है।

15. उपधान श्रुत नामक नवमें अध्ययन में कर्मों की मलिनता को दूर करने के लिए उपधान तप की बात कही गई है। इसमें दीर्घतपस्वी भगवान महावीर के तपोनिष्ठ, ज्ञान, दर्शन, चारित्र-साधनामय उपधानमय जीवन का सांगोपांग वर्णन किया गया है। भगवान महावीर की दीक्षा से लेकर निर्वाण तक की मुख्य-मुख्य घटनाओं का भी उल्लेख इसमें किया गया है।

उपधान का सामान्य अर्थ होता है- शय्या आदि पर आराम से सोने के लिये सिर के नीचे (पास में) सहारे के लिये रखा जाने वाला साधन-तकिया, यह द्रव्य उपधान है। भाव उपधान-चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम, क्षयोपशम से उत्पन्न भावों को सुरक्षित रखने में सहायक बनते हैं, ये ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप होते हैं।

इनसे साधक को अनन्त सुख, शान्ति और आनन्द की अनुभूति होती है, इसलिए ये ही साधक के लिये शाश्वत सुख देने वाले उपधान कहलाते हैं।

आचाराङ्गसूत्र में अहिंसा

-श्री पदमचन्द गाँधी, जयपुर

साधक के जीवन में जब तक विवेक का प्रकाश जगमगाता रहता है और उसकी जागरूकता विद्यमान है, तब तक वह अहिंसा है पर जब साधक के जीवन में विवेक की ज्योति बुझ जाती है और जीवन प्रमाद के अन्धकार में भटक जाता है, तब वहाँ हिंसा का ही वातावरण प्रस्तुत होता है। इस दृष्टि से मन, वचन, कर्म का प्रमत्त योग भी हिंसा है और प्रमत्त योग से किसी प्राणी का घात करना हिंसा है। आचार्य हरिभद्र के विचारानुसार आत्मा ही अहिंसा है और आत्मा ही हिंसा है। अप्रमत्त आत्मा अहिंसक है और प्रमाद से युक्त आत्मा हिंसक है। आत्मा कर्म एवं क्रिया के बन्धनों के कारण भव-भ्रमण करती है और उन कर्मों को उत्पन्न कराने वाली जीव द्वारा की गई क्रियाएँ हैं। ये क्रियाएँ तीन करण, तीन योग और तीन काल से सत्तावीस कही गयी है जो समस्त कर्मसंग्रह का कारण कही गयी है और कर्म से ही संसार-भ्रमण चक्र चलता है। अत: जिन्होंने आत्मा, लोक, कर्म और क्रियाओं को समझ लिया है, जान लिया है तथा मान लिया है वह ज्ञानी है, प्रबुद्ध आत्मा है तथा अहिंसक है। लेकिन जो क्रिया और कर्मो को जानकर उससे अलग नहीं होते, जो आत्म-स्वरूप भान हो जाने पर भी उदय भाव में बहते हैं, जन्म मरण और कर्मदु:ख-परम्परा को भोगते हैं, उनका जानना अप्रत्याख्यान की अपेक्षा अनजान के समान हो जाता है। अत: इनकी गिनती अज्ञानी में की गयी है।

इस प्रकार आचाराङ्गसूत्र में कर्म-बन्धन के कारणों के विषय में परीज्ञा-विवेक का निम्न प्रकार से उपदेश किया है-

1.संसार में हिंसा या पापक्रिया के कारण-आचाराङ्गसूत्र 1/1/1/9 में बताया गया है- 1. ये जीव अपने प्राप्त जीवन और जीवन के निर्वाह के लिए विविध पाप क्रियाओं को स्वीकार करते हैं। 2. कई जीव मान संज्ञा से प्रवाहित होकर, प्रशंसा एवं यश के लिए हिंसा करते हैं। 3. कई सम्मान की प्राप्ति के लिए 4. पूजा-प्रतिष्ठा के लिए पाप-क्रियाओं को स्वीकार करते हैं। 5. कई मतिभ्रम से, संगति भ्रम से अर्थात् कुधर्म-प्रचारकों की संगति से या देखा-देखी धर्म के नाम से, भगवान के नाम से हिंसा करते हैं। 6. कई मोक्ष-प्राप्ति का झूठा मार्ग अपनाकर धर्म के लिए, संसार-मुक्ति के लिए विविध प्राप्त क्रियाओं को स्वीकार करते हैं। जैसे-धर्म के नाम से बली चढ़ाना,

होम, हवन, द्रव्य पूजा, फूल, पानी, अग्नि आदि की प्रवृति, नाचना, कूदना, ढोल बजाना, ताल आदि वाजिंत्र बजाना वगैरह पाप क्रियाएँ लोग धर्म की दृष्टि से भी करते हैं। 7. अपने उपर आयी हुयी आपत्ति, रोग, आतंक, उपद्रव आदि को दूर करने के लिए या किसी प्रकार से अपने बचाव, सुरक्षा, स्वार्थ के लिए पाप क्रियाओं को करते हैं तथा 8. जन्म-मरण के नाम पर भी हिंसा कर लेते हैं।

उपर्युक्त सभी हिंसा के हेतु हैं जो जानने-योग्य एवं त्यागने-योग्य होते हैं, जो इन्हें जान लेता है, त्याग देता है वही परिज्ञात कर्मा होता है, संयमी एवं अहिंसक होता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि क्रियाओं की विपरीतता का माप दण्ड हिंसा है तो उनकी उचितता का मापदण्ड अहिंसा है। जिसने भी हिंसात्मक क्रियाओं को दृष्टाभाव से जान लिया है उसके हिंसा समझ में आ जाती है।

2. हिंसा के उपकरण–आचाराङ्ग का पहला अध्याय शस्त्र परिज्ञा का है, जो स्पष्ट करता है कि हिंसा के दो उपकरण हैं, दो शस्त्र हैं-(1) पहला बाह्य उपकरण द्रव्य हिंसा है, जो प्रत्यक्ष है- जैसे चाकू-छुरी, तलवार, तीर, भाला, बन्दूक, गोली, इत्यादि। द्रव्य हिंसा इतनी खरतनाक नहीं होती क्योंकि द्रव्य हिंसा प्राण नाश स्वरूप होते हुए भी चित्त के कालुष्य के अभाव में हिंसा नहीं है। जैसे डॉक्टर द्वारा ऑपरेशन करने पर व्यक्ति की मृत्यु। इसमें डॉक्टर का भाव मारना नहीं रोगी को बचाना होता है। (2) दूसरा उपकरण है भाव हिंसा, जो राग-द्वेष युक्त कलुषित परिणाम वाली होती है। जैन दर्शन की दृष्टि से किसी जीव का मर जाना हिंसा नहीं है किन्तु क्रोध, मान, माया, लोभ के कलुषित भावों से किसी जीव के प्राणों की घात करना हिंसा है।

हिंसा का मूलाधार कषाय भाव ही है। बाहर भले ही किसी प्राणी की हिंसा न भी हो पर भीतर में यदि कषाय भाव है और रागद्वेष की परिणति चल रही है तो वह हिंसा ही है। किसी भी प्राणी के प्रति मन में दुर्सकल्पों का प्रार्दुभाव होना भाव हिंसा है। जब मन में ईर्ष्या, चोरी, द्वेष, व्यभिचार जैसे दुष्कर्म के संकल्प पैदा होते हैं, तब आत्मभाव हिंसा से कलुषित हो जाता है। भाव हिंसा सबसे बड़ी एवं खतरनाक होती है। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि एवं तन्दुल मत्स्य, इसके उदाहरण हैं। वे दुष्ट एवं क्रूर संकल्पों के कारण सातवें नरक तक ले जाने वाले घोर पापकर्मो का बन्ध कर लेते हैं।

3. आत्मौपम्य दृष्टि–श्रमण संस्कृति के उन्नायक भगवान महावीर ने कहा है कि सर्व प्राणी, सर्व भूत, सर्व जीव और सर्व सत्त्व को नहीं मारना चाहिए, न

पीड़ित करना चाहिए, और न उनको मारने की बुद्धि से स्पर्श ही करना चाहिए। यही धर्म शुद्ध शाश्वत व नियत है। प्राणीमात्र के प्रति संयम भाव रखना अहिंसा है। आचाराङ्गसूत्र प्रथम अध्याय एक से छः उद्देश्यक कहते हैं- 'छह जीवनिकाय (पृथ्वी, अप्, तेऊ, वायु, वनस्पति एवं त्रस) को अपनी आत्मा के समान समझो।' भगवान महावीर ने आचाराङ्ग 1/1/5/48 में कहा है कि 'हे मानव! जिसको तू मारने की भावना रखता है, सोच, वह तेरे जैसा ही सुख-दुःख का अनुभव करने वाला है, प्राणी है। जिस पर तू अधिकार जमाने की आकांक्षा रखता है, वह तेरे ही समान एक चेतन है। जिसे तू दुःख देने की सोचता है, वह तेरे जैसा ही प्राणी है। जिसको तू अपने वश में करने की इच्छा करता है, वह तेरे जैसा ही एक जीव है। जिसका तू प्राण लेने की भावना रखता है, वह तेरे जैसा ही प्राणी है।'

इस प्रकार संसार में सत्पुरूष विवेकमय जीवन व्यतीत करता हुआ न किसी जीव को मारता है और न किसी की घात करता है, क्योंकि हिंसा से तो आत्मौपम्य की भावना का तो नाश होता ही है साथ ही उसके कटु परिणाम भी होते हैं। सूत्रकृताङ्गसूत्र 2/2/42 में भगवान महावीर ने अहिंसा परक आत्म-संयम का पथ प्रदर्शित करते हुए बतालाया 'आत्मार्थी, आत्मा का कल्याण करने वाला, आत्मा की रक्षा करने वाला, आत्मा में शुभ प्रवृति करने वाला, संयम के आचरण में पराक्रम प्रकट करने वाला, आत्मा को संसाराग्नि से बचाने वाला, आत्मा पर दया करने वाला, आत्मा का उद्धार करने वाला साधक अपनी आत्मा को सर्व पापों से मुक्त रखे, यही विवेक है।

4. समत्वयोग की साधना अहिंसा-अहिंसा का मूल आधार समत्वयोग है। इस समता मूलक चिन्तन पर ही जैनदर्शन की मीनार खड़ी है। आचाराङ्गसूत्र 1/2/3/45 में स्पष्ट किया है कि जीवन-मरण की प्रतीति सब को होती है, मरना कोई नहीं चाहता। सभी प्राणियों की जीवनधारा भी एक सी है। सभी दीर्घायु चाहते हैं, सुख पसन्द करते हैं, दुःख से घबराते हैं। जीवन प्रिय है, मरण अप्रिय है। इसलिए सभी जीवों को समदृष्टि से देखना है। चैतन्यमात्र के प्रति अपने-पराये का भेद न रख कर सबके साथ समतामूलक व्यवहार करना है। किसी प्राणी को इच्छित सुख के विपरीत दुःख देना उसके जीने के मौलिक अधिकार का हनन करना है, जो अकर्त्तव्य की श्रेणी में आता है। अतः किसी के अधिकारों का रक्षण करना ही कर्त्तव्य परायणता रूपी अहिंसा है। अहिंसा की परख यही है जो प्राणी जीने का अधिकार चाहता है उसे जीने दे तथा उसमें सहायक बने।

5. आत्मतुलाविवेक–इसे हम आत्म तुल्यता का सिद्धान्त भी कह सकते हैं। यह सिद्धान्त अहिंसक जीवन की कसौटी है। हम जैसा व्यवहार दूसरों के प्रति कर रहे हैं तब दूसरा व्यक्ति भी वही व्यवहार हमारे साथ करे तो हमारी मनोदशा कैसी होगी ? इस प्रकार आत्म तुला पर परखना है। जैसे मै हूँ वैसे ही सब जीव हैं, जैसे मुझे दु:ख पसन्द नहीं अन्य को भी नहीं। अत: संयमी श्रेष्ठ पुरुष सब जीवों में आत्मतुला को देखते हैं। आचाराङ्ग 1/1/7/57 का उद्घोष भी **'जे अज्झत्थं जाणइ, से बहिया जाणइ, जे बहिया जाणइ, से अज्झत्थं जाणइ। एयं तुलमन्नेसिं।'** जो अध्यात्म को जानता है, वह बाहर को जानता है तथा जो बाहर को जानता है, वह अध्यात्म को जानता है। एक पक्ष को जान लेने से दूसरा पक्ष स्वत: जान लिया जाता है।

जब प्राणी को इस आत्मतुलना का ज्ञान हो जाता है तो वह स्वयं के सुख तथा स्वार्थ के लिए दूसरे जीवों को कष्ट नहीं पहुँचाता है। अपने सुख को साधने की भावना तब तक बनी रहती है, जब तक दृष्टि में विषमता है, स्व तथा पर के सुख का भेद है। लेकिन जब समानता की भावना जाग्रत होती है तब प्राणी अन्य जीवों के संरक्षण में संलग्न हो जाता है, यही श्रेष्ठ जीवन का विकास सूत्र है। इससे अहिंसा की ओर आगे बढ़ सकते हैं। हिंसा-निवृति के तीन कारण बताये हैं-

(1) आतंक दर्शन–हिंसा से होने वाले कष्ट, भय, उपद्रव एवं पारलौकिक दु:ख आदि को आगम वाणी तथा आत्म-अनुभव से देखना। **(2) अहित चिन्तन**–हिंसा से आत्मा का अहित होता है, ज्ञान, दर्शन, चरित्र आदि की उपलब्धि दुर्लभ होती है, इनको समझना, जानना एवं आचरित करना। **(3) आत्म तुलना**–अपनी सुख-दु:ख की वृतियों के साथ अन्य जीवों की तुलना करना।

अहिंसा का पालन भी अन्धानुकरणवृत्ति से नहीं होना चाहिए, ज्ञान और करुणापूर्वक होना चाहिए अत: साधक के लिए कहा गया है हे साधक, षट् काय के जीवों के प्रति स्वच्छन्दचारी और विषयों में आसक्त मत बन, आरम्भी क्रियाओं का त्याग कर अन्त:करण से पाप कर्म को अकरणीय न करने योग्य जानने का अन्वेषण कर, दूसरों से इनका समारम्भ मत करवा तथा ऐसा करने वालों का अनुमोदन भी मत कर। जिसने षड्जीवनिकाय शास्त्र का प्रयोग भली भांति जान लिया है, त्याग दिया है, वही परिज्ञात कर्म संयमी साधक होता है तथा अहिंसा का पालनकर्ता भी।

6. सह अस्तित्व का सम्मान–आचाराङ्ग की घोषणा है कि प्राणी के अस्तित्व को नकारना अपने अस्तित्व को नकारना है। अत: सभी प्राणियों की सत्ता को स्वीकार करके उनके विकास में सहयोगी बनें। जब व्यक्ति दूसरों के अस्तित्व को नकार कर अपने अहं को पोषित करता है तब ही हिंसा-संघर्ष की उत्पत्ति होती है। प्रत्येक प्राणी की स्वयं की अपनी सत्ता होती है-अस्तित्व होता है। सत्ता के पृथक् होने से सभी प्राणियों की विचारधारा भी पृथक्-पृथक् सम्भव है। सह अस्तित्व की यही विशेषता है कि इसमें सभी विचारधाराओं का सम्मान होता है। अत: कोई भी अपनी विचारधारा को दूसरे पर थोपे नहीं। सभी अपनी-अपनी मर्यादा एवं सीमा में रहें। हमारी संस्कृति हिंसा का जवाब अहिंसा से देने की रही है। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पति काय अव्यक्त चेतना वाले हैं, इनकी हिंसा का पूर्ण त्याग संयमी तथा उसकी मर्यादा एवं विवेक गृहस्थ करता है।

7. अभय की अवधारणा–अभय की अवधारणा अहिंसा का प्राण है क्योंकि प्रत्येक जीव अभय चाहता है। यह जान कर जो हिंसा नहीं करता, वही व्रती है, अणगार है। बुद्धिमान पुरुष जीवों के स्वरूप के विषयों को गम्भीरता से चिन्तन मनन करे, अभय को जाने। जैसे मुझे अभय प्रिय है, दूसरे को भी प्रिय है, ऐसा करने से प्रत्येक जीव के साथ आत्म-एकत्व की अनुभूति होती है। इससे अहिंसा की आस्था सुदृढ़ एवं सुरक्षित होती है। जो दूसरों को अभय बनाता है और स्वयं किसी भी प्रकार से भयभीत नहीं होता, वही वास्तव में अभय है। सभी जीवों के प्रति मैत्री भाव रखने से ही सभी जीव अभय बनते हैं।

उपर्युक्त सभी को जानकर स्वयं महावीर अहिंसा का विवेक रखते हुए जीवनयापन करते थे। आचाराङ्ग के नवें अध्याय का प्रथम उद्देशक के सूत्र स्पष्ट करते हैं कि स्वयं महावीर प्रभु षट्काय की रक्षा करते तथा इनके प्रतिपालक थे। ये अस्तित्ववान है, चेतनवान है, जानकर आरम्भ का परित्याग करके विहार करते थे। हमें भी इन सभी विवेकपूर्ण बातों को ध्यान में रखकर अहिंसक बनना है। इस प्रकार हिंसा और अहिंसा के विवेकवान स्वरूप को समझते हुए तथा विवेक पूर्ण दृष्टि रखते हुए जीवों का रक्षण करने का संकल्प करना है। जीवों के रक्षण में भागीदार बनना है। भाव हिंसा सबसे ज्यादा घातक है, इससे बचते हुए तथा इसको आचरित करते हुए अहिंसक बनना है।

-25, बैंक कॉलोनी, महेश नगर विस्तार-बी, गोपालपुरा बाईपास, जयपुर

आचाराङ्गसूत्र में मुनिचर्या

-श्रीमती अरुणा कर्णावट, जयपुर

आचाराङ्गसूत्र में 'श्रमणजीवनचर्या' का विस्तार से वर्णन मिलता है। इस संसार में जीव संसाररूपी समुद्र में गिरकर अपने कर्मों के कारण जन्म-मरण करता रहता है और संसाररूपी चक्रव्यूह में फँसता ही चला जाता है।

इस संसाररूपी चक्रव्यूह से निकलने का एकमात्र सुपथ श्रमण दीक्षा है, जिसमें व्यक्ति आजीवन तीन करण तीन योग से पाँच महाव्रतों को अंगीकार कर पापों व दोषों से निवृत्ति की ओर कदम बढ़ाता है। साधना का प्रारम्भ भी निर्दोषता से होता है। फिर धीरे-धीरे जीव पाप प्रवृत्तियों से छुटकारा पाकर अप्रमत्तता की दिशा में बढ़ते हुए साधना के अन्तिम पड़ाव निर्दोषता को प्राप्त कर अष्ट कर्मों का क्षयकर सिद्ध दशा का वरण कर लेता है।

आचाराङ्गसूत्र विभिन्न प्रकार से श्रमण-जीवन में विशुद्धि व उत्तरोत्तर विकास की प्रेरणा देता है।

(1) अप्रमत्तता-आचाराङ्गसूत्र प्रतिपल श्रमण जीवनचर्या में अप्रमत्तता व सजगता की प्रेरणा देता है। साधक पूर्णत: अप्रमत्त होकर आत्महित के लिए पुरुषार्थ करे। आत्म-विस्मृति ही प्रमाद है। अप्रमत्तता श्रमणचर्या का प्रमुख अंग है। व्यक्ति रात-दिन राग-द्वेष कर, प्रमाद कर कर्मों की नवीन शृंखला को बढ़ाता चला जाता है। इसलिए आचारांग का उद्घोष है कि-'उट्ठिए' अर्थात् उत्थित हो। जिस प्रकार संसारी जीवन बिना सम्पत्ति के नहीं चल सकता, उसी प्रकार संयमी जीवन भी विवेक के बगैर नहीं चल सकता है। एक क्षण का प्रमाद भी साधक को नीचे गिरा सकता है।

जब गौतम जैसे उत्कृष्ट साधक आत्मा को भी भगवान महावीर ने कहा था- 'समयं गोयम मा पमायए।' हे गौतम! क्षण मात्र का भी प्रमाद मत करो तो फिर सामान्य साधक की तो बात ही क्या है। आत्मा के लक्ष्य के बिना की गई प्रत्येक क्रिया प्रमाद के अन्तर्गत आती है।

(2) परिग्रह से निवृत्ति-किसी भी आरम्भ-समारम्भ का मूल परिग्रह ही

होता है। श्रमण सभी प्रकार के बाह्य (जड़) परिग्रह से मुक्त होते हैं। आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग भी इनके लिए आवश्यक बताया गया है। किसी भी बाह्य पदार्थ में सुख देने का सामर्थ्य होता ही नहीं है। साधु जीवन में तो अपने भण्ड-उपकरण पर ममत्व रखना भी त्याज्य बताया गया है। आगमों में तो यहाँ तक बताया गया है कि एक राजा भी अपरिग्रही हो सकता है और एक भिखारी भी महापरिग्रही की श्रेणि में आ सकता है। कहते हैं प्राप्त या अप्राप्त वस्तुओं पर आसक्ति या मूर्च्छा भाव ही परिग्रह है।

दशवैकालिक सूत्र के चौथे अध्ययन में कहा गया है-'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो' मूर्च्छा भाव को ही परिग्रह कहा गया है।

(3) पंच महाव्रत पालन-पाँच महाव्रतों का पालन किये बगैर श्रमण धर्म रह ही नहीं सकता। दशवैकालिक सूत्र, आचारांग सूत्र में बताया गया है कि पाँच महाव्रतों में अहिंसा महाव्रत सबसे मुख्य है। शेष चार महाव्रत अहिंसा महाव्रत की रक्षा के लिए धारण किये जाते हैं। जैसे कि अहिंसा की पूर्णता के लिए सत्य का होना आवश्यक है, वैसे ही सत्य की परिपालना के लिए अचौर्य महाव्रत आवश्यक है। ये तीनों महाव्रत मैथुन त्याग के बिना यथावत् नहीं पाले जा सकते हैं। इन चार के पीछे पाँचवा अपरिग्रह महाव्रत है। परिग्रह के लिए ही हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि का सेवन किया जाता है, इसलिए परिग्रह को ही सभी पापों का मूल भी कहा जाता है। रात्रिभोजन का त्याग प्रथम महाव्रत के अन्तर्गत ही समाविष्ट हो जाता है। अत: आचाराङ्गसूत्र श्रमणवर्ग के लिए पञ्च महाव्रतों पर में स्थिरता पर विशेष जोर देता है।

(4) भेद-विज्ञान-आचाराङ्गसूत्र में भेद-विज्ञान अर्थात् शरीर अलग, आत्मा अलग को समझना श्रमणों के लिए अत्यन्त आवश्यक बताया गया है। हाँलाकि प्रत्येक साधक आत्मा को भेद-विज्ञान का ज्ञान होना आवश्यक है। अनन्त करुणासिन्धु भगवान महावीर ने इसमें फरमाया है कि अन्य गति, जाति आदि में हम कर्म और आत्मा को अलग नहीं कर सकते, इस मानव भव में ही भेद-विज्ञान को धारण कर मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर हो सकते हैं। कितनी भी वेदना आये यही समझना ये दु:ख, ये तकलीफ, ये वेदना मेरे कहे जाने वाले शरीर रूपी पुद्गल को ही हो रही है, मेरी आत्मा को नहीं। मैं आत्मा हूँ, तीनों काल में भी मैं शरीर हो ही नहीं सकता। जैसा कि परम श्रद्धेय ध्यान साधक, तत्त्वचिन्तक, गुरु भगवन्त हमेशा फरमाते हैं कि उदय में सहज रहना ही निश्चय धर्म है। उदय में सहज रहकर ही हम उदय को निष्फल बना

सकते हैं। इसलिए एक आत्मार्थी साधक भेद-विज्ञान के बल पर अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

(5) आहार विवेक–पाँच समिति तीन गुप्ति के धारक श्रमण त्यागी, वैरागी, संयमी होने के साथ-साथ स्वाद विजयी भी होते हैं। उनके आहार करने का उद्देश्य संयम-निर्वाह हेतु ही होता है। अपनी देह को किराया चुकाने के हिसाब से ही वे आहार करते हैं। श्रमण-श्रमणी वर्ग आहार के प्रति निस्पृह होते हैं। आहार का प्रभाव शरीर पर ही नहीं वरन् उनके आचार-विचार व व्यवहार पर भी पूर्णत: पड़ता है। इसलिए आहार का निर्दोष व शुद्ध होना बहुत जरूरी है। आचाराङ्गसूत्र के द्वितीय उद्देशक में भी बताया है कि श्रमण को ऐसे स्थानों पर गोचरी के लिए नहीं जाना चाहिए जहाँ अनेक दोष लगने की सम्भावना हो। श्रमण-श्रमणी वर्ग कभी भी स्वाद के लिए अधिक आहार नहीं लाते, केवल मात्र संयम-निर्वाह के लिए ही वे आहार करते हैं।

आचाराङ्गसूत्र में तो यहाँ तक भी कहा गया है कि आहार के लिए श्रमण कभी भी विषम मार्ग से ना जाए, उबड़-खाबड़ रास्ते या जहाँ जंगली जीव-जन्तुओं का भय हो, वहाँ जीव-विराधना के साथ-साथ संयम-विराधना भी हो सकती है। मार्ग में यदि पक्षी आदि दाना चुग रहे हो तो श्रमण वर्ग उस मार्ग से भी आवागमन ना करे क्योंकि वे पक्षी भयभीत होकर उस स्थान से भागेंगे और उनके आहार में अन्तराय पड़ेगी। इसलिए श्रमण शुद्ध आहार व निर्दोष आहार की गवैषणा करते हुए विवेकपूर्वक आहार ग्रहण करते हैं।

(6) विचरण-विहार विवेक–आचाराङ्गसूत्र के चतुर्थ उद्देशक में बताया है कि श्रमण-श्रमणी वर्ग को विहार-विचरण के समय अत्यन्त सावधानीपूर्वक उस मार्ग का चयन करना चाहिए जो जीव-जन्तु रहित हो। एकल विहार नहीं करना चाहिए, उसे अल्प उपधि वाला होना चाहिए तथा दृढ़ श्रद्धावान होना चाहिए। ईर्या समिति का शुद्ध पालन करते हुए विहार करना चाहिए। यतनापूर्वक, चित्त की गति को एकाग्र कर, पथ पर दृष्टि टिकाकर, मार्ग में आने-जाने वाले प्राणियों को देखकर ही चलना चाहिए। गुरु के निर्देशानुसार ही, उनकी आज्ञा के अनुरूप ही विहार करना चाहिए। श्रमणवर्ग ऐसी कोई प्रवृत्ति ना करें जो गुरु आज्ञा के विपरीत हो, जिस मार्ग से कहे उसी मार्ग का अनुसरण करें।

(7) स्थान विवेक–आचाराङ्गसूत्र में स्थान से सम्बन्धित विवेक का पूर्णत: पालन करने पर विशेष बल दिया गया है। श्रमणवर्ग पूर्णत: अहिंसा के पालक होते हैं अत: उन्हें जिस भी स्थान पर रुकना हो उस स्थान का विशेष रूप से अन्वेषण करना चाहिए कि उस स्थान विशेष पर किसी जीव की उत्पत्ति तो नहीं हो रही है।

श्रमणवर्ग के आधिपत्य में कोई स्थान, मकान अथवा स्थानक नहीं होते हैं, उपाश्रय अथवा स्थानक में भी श्रमणवर्ग गृहस्थवर्ग की आज्ञा से ही ठहरते हैं। स्थानक का प्रयोग वे सोने, बैठने, उठने, स्वाध्याय, धर्म-ध्यान, कायोत्सर्ग इत्यादि के लिए करते हैं। संयम का जुड़ाव स्थान विशेष से नहीं वरन् अपने स्वयं के शुद्ध भावों से ही होता है। श्रमणवर्ग कभी भी ऐसे स्थान पर नहीं ठहरते जहाँ स्त्री इत्यादि की फोटो हो और कोई कुसंस्कार उभर कर आ जाए। स्थान शान्तिपूर्ण व कोलाहल रहित हो। लोगों की आवाजाही कम हो।

(8) समता का विकास–आचाराङ्गसूत्र के पाँचवें उद्देशक में साधना में 'समता' को महत्त्वपूर्ण बताया है। साधक समता रखता है तो मुक्तिपथ का रास्ता खुला है, यदि समता नहीं रखता है और प्रत्येक बात में अपनी समता खो देता है तो संसार ही संसार है। समता अर्थात् समदृष्टि रखना। धार्मिक क्षेत्र में सभी साधनाएँ समता की नींव पर आधारित हैं। इस भौतिकवादी युग में परस्पर रुचि, विचार आदि में जबरदस्त मतभेद है, छोटी-छोटी बातों में एक-दूसरे से अपेक्षाएँ बहुत बढ़ती जा रही हैं, ऐसी स्थिति में मन अपना सन्तुलन खो बैठता है। अत: जीवन में समता रखना बहुत ही आवश्यक है। हम जितनी समता रखते चलेंगे, हमारी कर्मों की निर्जरा भी अधिक से अधिक होती चली जायेगी। 'अनुकूल हो चाहे प्रतिकूल परिस्थिति' सन्तुलित रहना अत्यन्त आवश्यक है।

गजसुकुमाल मुनि के सिर पर दहकते अंगारे रखे गये और वे समता की पराकाष्टा को पार कर गये। असह्य वेदना के क्षणों में भी उन्होंने समता रखी और शुक्लध्यान को ध्याते हुए एक अन्तर्मुहूर्त्त में ही कर्मों को समाप्त कर मोक्ष का वरण किया। यदि गजसुकुमाल मुनि इस भयंकर निमित्त को समताभाव से नहीं सहते और प्रतिकार करते तो मोक्षगति को कभी भी प्राप्त नहीं कर सकते थे। कोई सम्मान करे अथवा अपमान, हमारी निन्दा करे अथवा प्रशंसा, अच्छा मिले या बुरा प्रत्येक स्थिति में हमें अपनी समता बनाए रखनी है। किसी भी बात, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति

आदि पर प्रतिक्रिया करना ही नहीं है। तभी हम समता की ऊँचाईयों को स्पर्श करते हुए अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकेंगे।

(9) जीवों के प्रति मैत्रीभाव–श्रमणवर्ग सर्वजीवों के प्रति मैत्रीभाव का झरना प्रवाहित करते हैं। आचारांग सूत्र में कहा है कि सर्वजीवों को साता प्रिय है किसी को भी असाता प्रिय नहीं है, सभी जीव जीना चाहते हैं मरना कोई भी नहीं चाहता। हमें बदले में दु:ख मिले या अपयश मिले प्रत्येक जीव को साता ही पहुँचानी है। अच्छे कार्य या कर्म का फल सदैव हमें अच्छा ही मिलता है। जो मुमुक्षु आत्मायें हैं वे कभी किसी को दु:ख नहीं पहुँचाती हैं। सभी के सुखों को ध्यान रखती हैं। जो केवल मात्र अपना हित साधता है वह स्वार्थी होता है लेकिन जो प्रत्येक प्राणीमात्र का हित साधता है वह परमार्थी होता है।

आगम साक्षी है कि जीवों को अभयदान देने वाले धर्मरुचि अणगार आज सर्वार्थसिद्ध विमान में सुख का अनुभव कर रहे हैं तो उधर अपने बुरे भावों से कड़वे तुम्बे का दान देने वाली नागश्री ब्राह्मणी नरक के महादु:खों को वेदन कर रही है।

(10) आसक्ति को विरक्ति में बदलती श्रमणचर्या–आसक्ति का केन्द्रबिन्दु पुद्गल मात्र है। पुद्गल का स्वभाव ही है सड़न–गलन–विध्वंसन। आचाराङ्गसूत्र में वर्णित श्रमणचर्या चाहे आहार से सम्बन्धित हो या विहार से, वस्त्र से सम्बन्धित हो या उपकरण से श्रमणचर्या का सार इतना ही है कि श्रमण–श्रमणी वृन्द आसक्ति को विरक्ति में बदले, किसी भी पदार्थ पर लेशमात्र भी आसक्ति ना रखे क्योंकि जहाँ भी आसक्ति हो, चाहे वह आहार के प्रति हो या शरीर के प्रति वहाँ व्रत–नियम सम्बन्धी चर्या का पालन कठिन हो जाता है। आत्मा पतन के मार्ग पर चली जाती है।

अत: श्रमणवर्ग इस संयमी जीवन का महत्त्व समझ किसी भी पदार्थ पर आसक्ति ना रखकर अन्तर्मुखी रहते हैं और अनन्त संसार को सीमित कर संसार–पारगामी हो जाते हैं।

(11) अनित्यता की भावना से बोध जाग्रत–आचाराङ्गसूत्र श्रमणों की वैराग्य भावना को पुष्ट करने हेतु अनित्यता का चिन्तन जाग्रत करता है। अनन्तकाल से आत्मा निरन्तर चार गति रूप संसार में जन्म–मरण कर रही है। यह मानव–जीवन

क्षणभंगुर है, पानी की बूँद के समान है जो कि कभी भी मिट सकता है। मानव-जीवन ही जब नित्य नहीं है अनित्य है तो मानव-जीवन से जुड़े रिश्ते-नाते, पर-पदार्थ इत्यादि नित्य कैसे हो सकते हैं? अनन्त पुण्यवानी युक्त श्रमण-जीवन की सार्थकता को सिद्ध करने के लिए श्रमण हरपल अनित्यता को जाग्रत करते हैं। उन्हें तो शाश्वत सुख सिद्धगति मोक्ष का वरण करना है। जब अनित्यता के बोध की भावना से श्रमण हरक्षण भावित रहेंगे तभी सम्यक् पुरुषार्थ कर प्रत्येक व्यक्ति, स्थिति, घटना, पदार्थ का अनित्य स्वरूप देखेंगे। फिर वीतरागी बन सिद्ध स्वरूप को प्राप्त करेंगे।

इस प्रकार से आचाराङ्गसूत्र स्पष्ट रूप से मुनिचर्या को उल्लेखित करता है। श्रमण-श्रमणी का जीवन प्रतिपल उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते, स्वाध्याय करते, भण्डोपकरण काम में लेते, परठते, प्रवचन करते इत्यादि के समय सदैव जाग्रत रहना चाहिए। श्रमण-जीवन में तप-साधना, साधु जीवन के प्रति हरपल अहोभाव पुष्ट होता रहना चाहिए। वह प्रतिक्षण अप्रमत्त रहे, ऐसा कोई भी कार्य नहीं हो या एक क्षणमात्र का भी प्रमाद ना हो कि वह धरातल पर गिर जाए। दीक्षा लेने के बाद संसार कभी याद ही ना आये, पूर्व में भोगे हुए भोग कभी स्मृति-पटल पर ना आए। प्रतिदिन नये ज्ञानाराधना का उत्साह सतत बना रहे। श्रमण-जीवन में परीषहों से आकुल-व्याकुल ना हो, प्रत्येक स्थिति में समता का भाव ही पुष्ट होता चले, जैसाकि हमेशा ज्ञानी-ध्यानी परम श्रद्धेय तत्त्वचिन्तक गुरु भगवन्त फरमाते हैं-मैं कुछ नहीं, मेरा नहीं, मेरे लिए कुछ भी तो नहीं, कुछ भी मुझे चाहिए नहीं, संयोग मुक्ति करनी यही।

एक इच्छा दूसरी इच्छा को जन्म देती है, इसलिए कभी कोई इच्छा करे ही नहीं। उत्तराध्ययनसूत्र के 9वें अध्ययन की 48वीं गाथा में भी कहा गया है-**'इच्छा हु आगासमा अणंतिया'** अर्थात् इच्छा आकाश के समान अनन्त है। शुद्ध वैराग्य को पुष्ट करते हुए ही इच्छाओं पर नियन्त्रण कर श्रमण-जीवन को और अधिक ऊर्ध्वगामी बनाया जा सकता है।

आचाराङ्गसूत्र सदैव प्रेरित करता है कि श्रमण अपने जीवन में प्रतिपल प्रसन्न रहे और महापराक्रम कर स्वयं के कर्मों को हमेशा के लिए पछाड़ कर मोक्षरूपी गति का वरण कर शाश्वत सुख की प्राप्ति करें।

आचाराङ्गसूत्र कहे कामभोग दु:ख की खान है

-श्रीमती लीलाबाई सालेचा, जलगाँव

मनुष्य जीवन का लक्ष्य दु:खमुक्ति को प्राप्त करना हैं। जहाँ काम है, वहाँ राम नहीं, जहाँ राम है, वहाँ काम नहीं। जहाँ कामनाएँ हैं, वासनाएँ हैं, तृष्णा है, इच्छाएँ हैं, वहाँ मात्र दु:ख है। उन्हीं की शृङ्खलाओं को हटाने के लिए आचाराङ्ग में ऐसे सारभूत छोटे-छोटे सूत्र प्रस्तुत किये गये हैं, जिसे आत्मसात् करने पर, हृदयंगम करने पर हमें हमारी साधना में शत-प्रतिशत सफलता मिल सकती है। आचाराङ्ग कामना एवं ममतारूपी भाव संसार के स्वरूप का दिग्दर्शन करता है।

आचाराङ्ग मनुष्य के आन्तरिक रूपान्तरण की झाँकी प्रस्तुत करता हैं।पाँच इन्द्रिय और मन के जो विषय हैं, इनमें आसक्त जीव संसार में परिभ्रमण करता है। **जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे**-आचाराङ्गसूत्र (1/1/5/44) अर्थात् जो गुण है, वह आवर्त्त (संसार) है। जो आवर्त्त है, वह गुण है। यहाँ गुण का अर्थ पाँच इन्द्रियों के शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श से लिया गया है। ये विषय सभी दिशाओं में मिलते हैं। इन्द्रियों के द्वारा आत्मा इन विषयों को ग्रहण करता है। विषयों के प्रति मूर्च्छाभाव होने से आत्मा उनमें मुर्च्छित हो जाता है। मूर्च्छाभाव कहो, लगाव कहो, आकर्षण कहो, आसक्ति कहो, यही तो संसार है, बन्धन है, आवर्त्त है। आचाराङ्गसूत्र में इसी सूत्र के विवेचन में बताया गया है कि दीक्षित होकर भी जो मुनि विषयासक्त बन जाता है, बार-बार विषयों का सेवन करता है, उसका यह आचरण कपटाचरण है, क्योंकि वह बाहर से त्यागी दिखता है। वास्तव में वह प्रमादी है, गृहवासी है और जिनाज्ञा से बाहर है।

उत्तराध्ययनसूत्र में 25वें अध्ययनों में बताया गया है-कर्मों का उपचय भोगों से होता है, अभोगी जीव कर्मों से लिप्त नहीं होता। भोगी संसार में परिभ्रमण करता है, जबकि अभोगी कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है। सम्यग्दृष्टि को संसार के भोग रोग तुल्य लगते हैं।

शरणानन्दजी के शब्दों में-हमने व्यवहार में यह सुन रखा है कि विष खाने से आदमी मर जाता है। हमारे मन में यह बात इतनी जम गई है कि किसी भी स्थिति में विष नहीं खाना है। हमारे सारे शास्त्र, गुरु भगवन्त कहते हैं कि पाँच इन्द्रियाँ और

मन के विषय, यह महान विष है। इसका सेवन करने से मनुष्य बार-बार जन्मता है, मरता है। फिर भी यह जीव इतना ढ़ीठ बना हुआ है कि उस पर कुछ असर ही नहीं हो रहा है, क्योंकि इसके चित्त में भोग बैठे हैं। जिनाज्ञा के प्रति कोई बहुमान नहीं इसके अन्तर में। उल्टी चाल चल रहा है और अपने लिए दुर्गति को आमन्त्रण दे रहा है। वहीं 84 का फेरा।

जे गुणे से मूलट्ठाणे, जे मूलट्ठाणे से गुणे-(आचाराङ्गसूत्र 1/2/1/1) जो गुण है वह मूलस्थान (संसार का मूल कारण) है, जो मूलस्थान है, वह गुण है।

इस सूत्र में गुणों को मूलस्थान बताया गया है। गुण का अर्थ है-इन्द्रियों के विषय और मूलस्थान का अर्थ है-चार गतिरूप संसार का मूल कारण, आठ प्रकार के कर्म अथवा मोहनीय कर्म। अर्थात् शब्दादि इन्द्रिय-विषयों में आसक्त होना ही संसार की वृद्धि का, कर्मबन्ध का कारण है। वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, अवस्था के प्रति आकर्षण, लगाव संसार वृद्धि का कारण है।

विषयासक्त, अज्ञानी जीव को यह भ्रम रहता है कि इन्द्रिय-विषयों से मुझे तृप्ति मिलेगी। उन्हें पाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। उसकी मनोवृत्ति ममत्व प्रधान होती है। वह माता-पिता आदि सभी सम्बन्धियों, अपनी सम्पत्ति आदि के साथ में, मेरा के घेरे में बन्ध जाता है। अपनी इच्छाओं की तृप्ति के लिए हर प्रकार के अनुचित उपाय अपनाता है। नैतिकता को ताक पर रख देता है। उसकी वृत्ति आक्रामक बन जाती है। लोभ अकेला नहीं आता, क्रोध, मान, माया, काम सब कुछ आ जाता है। ये सारे दोष हैं। कोई दोष अकेला नहीं आता। समस्त दोषों का मूल है-भूल। जानते हुये नहीं जानना, इस स्थिति का नाम भूल है अर्थात् अपने ज्ञान का अनादर करना ही मूल भूल है।

उत्तराध्ययन सूत्र के 14वें अध्ययन में कहा है कि ये कामभोग अनर्थों की खान हैं। ये कामभोग क्षणिक सुख देने वाले हैं और बहुत काल तक दु:ख देने वाले हैं, थोड़ा सुख देने वाले हैं। ये संसार से मुक्त होने में बाधक हैं।

कहने का तात्पर्य यह कि हमें हमारी दृष्टि का परिवर्तन करना है। दु:ख के मूल कारण को समाप्त करना है तो विषयासक्ति, ममत्व, कामना, इन दोषों पर प्रहार करना है। दु:ख को मिटाने के बजाय दोष को मिटाना है। दोष हटे तो हम 'दु:खमुक्ति' जो हमारा लक्ष्य है, उसे हासिल कर पायेंगे।

आचाराङ्गसूत्र में लोक-विजय के उपाय

-श्रीमती शर्मिला खिंवसरा, अजमेर

सव्व तित्थगरा वि आयारस्स अत्थं पढमं आइक्खंति, ततो सेसगाणं एक्कारसण्हं अंगाणं ताएच्चेव परिवाडीए गणहरा वि सुत्तं गंथंति। इयाणि पढममंगंति किं निमित्तं आयारो पढमं ठविओ। -आचाराङ्ग चूर्णि

स्वाति नक्षत्र के आगमन के साथ जब प्रथम वर्षा तप्तधरा पर बरसती है तो माटी की सुगन्ध चहुँ ओर प्रसारित होती है। ऐसे ही कठोरतम साधना के पश्चात् प्रभु महावीर की पीयूषवर्षिणी वाग्गंगा की प्रथम धारा आचारांग सूत्र के रूप में प्रवाहित होकर मानव कल्याण की सुगन्ध बनी। उसी वाग्गंगा में से 'लोकविजय' के उपाय का यहाँ चिन्तन किया जा रहा है।

लोक-विजय-यहाँ 'लोक' शब्द से दो अर्थ ग्रहण किये जा सकते हैं-(1) षड् जीवनिकाय रूपलोक-मुनि षड् जीवनिकाय लोक को जानकर उसके संयम में प्रवृत्त होता है, वह निर्भय होता है। जो निर्भय होता है, वह दूसरों को निर्भय बना सकता है। (2) कषाय लोक-जो आगम के कषाय लोक को जानकर प्रवृत्ति करता है, वह अकुतोभय-अभय की पर्याय का अनुभव करता है। भय का हेतु दुःख और दुःख का हेतु कषाय है। जिसने कषाय को उपशान्त किया है वह दुःख नहीं होने से अभय होता है। विजय अर्थात् पुरुषार्थ, पराक्रम, आत्म-नियन्त्रण। संक्षेप में 'लोक-विजय' शब्द का अर्थ है दृष्टि को जीतना अथवा दृष्टि का विश्लेषण करना, चिन्तन करना, पर्यालोचन करना, अजेय दृष्टि होना। दृष्टि जो षड्जीवनिकाय का संयम करे और कषाय पर विजय प्राप्त करे। जहाँ 'लोक-विचय' शब्द लिया है वहाँ 'विचय' ध्यान व निर्वेद का, धर्मध्यान पूर्वक त्याग करने का प्रतीक है।

(1) षड् जीवनिकाय लोक संयम

आत्मद्रष्टा को शास्त्रकार प्रेरणा फरमाते हैं-'हे साधक! अपनी आत्मा से बाहर लोक में व्याप्त समस्त आत्माओं को देख तथा आत्म समता की दृष्टि को प्राप्त करके, न हिंसा कर, न करवा और न हिंसा का अनुमोदन कर।' 'आयगुत्ते अर्थात् आत्मगुप्त होकर ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चारित्रात्मा, उपयोगात्मा में रमण करने से साध्य 'लोक-विजय' की प्राप्ति होगी।

जो साधक समताभाव की साधना करता है वह आत्म-प्रसन्नता को प्राप्त

करता है। आत्म-प्रसन्नता को बनाये रखता है वह षड्जीवनिकाय रूप लोक का संयम करता है। उससे सम्पूर्ण लोक के छह जीवनिकाय के जीव भी प्रसन्न रहते हैं।

'प्रश्नव्याकरणसूत्र' में दिये गये अहिंसा भगवती के 60 नामों में एक संयम से आत्मदर्शी मुनि लोक या प्राणिजगत में मोक्ष या संयम को साधना चाहता है। वह रागद्वेष रहित शुद्ध जीवन जीता है। उपशान्त, पाँच समितियों से समित, अप्रमत्त और यतनाशील होकर पण्डितमरण की आकांक्षा करता हुआ जीवन के अन्तिम क्षण तक विचरण करता है।

'अंतरं च खलु इमं संपेहाए धीरे मुहुत्तमवि नो पमायए।' अन्तरात्मा की सम्प्रेक्षा करता हुआ साधक अनुभव करता है कि आत्मा में दु:ख नहीं है, भय भी नहीं है, उस आत्मा की विस्मृति के कारण ही अन्धकार है, यह विस्मृति प्रमाद कहलाती है। अप्रमाद शाश्वत प्रकाशदीप बनकर भीतर-बाहर आलोक कर आत्मा को विजयी बनाता है। 'आत्मार्थं समनुवासयेत्'-आत्मा के लिए हितकारी रत्नत्रय की प्राप्ति से अपने आपको भावित करने की प्रेरणा आचाराङ्ग देता है।

'विमुक्का हु ते जणा जे जणा पारगामिणो'-जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र के पालन करने वाले हैं, वे ही द्रव्य से, धन-धान्य, स्वजन आदि तथा भाव की अपेक्षा कषाय से मुक्त-पारगामी हुए कहे जाते हैं। इस भाँति लोक-विजय को साधते हैं।

(2) कषाय लोक विजय

साधक का प्रथम लक्ष्य कषाय-विजय है। कषाय निवृत्ति के बिना समभाव प्राप्त नहीं हो सकता है। उपघात आदि हेतुओं से उत्पन्न अध्यवसाय क्रोध है। उत्कर्ष का अध्यवसाय मान है। वञ्चना का अध्यवसाय माया है। परिग्रह का अध्यवसाय लोभ है। क्रोध आदि अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानावरण एवं संज्वलन के भेद से चार-चार प्रकार के हैं। क्षयोपशम, उपशम, क्षय की प्रक्रिया में भी गुणस्थान आदि की भिन्नता है। साधु-जीवन में कम से कम अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी और प्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया और लोभ का त्याग तो अवश्य होना चाहिए, परन्तु यदि चारित्र मोहनीय कर्म के उदयवश साधु-जीवन में भी अपकार करने वाले के प्रति तीव्र क्रोध आ जाय, जाति, कुल आदि के मद उत्पन्न हो जाय अथवा पर-वञ्चना या प्रच्छन्नता, गुप्तता आदि के रूप में माया का सेवन हो जाए, अथवा अधिक पदार्थों के संग्रह का लोभ जाग उठे तो तुरन्त ही सम्भल कर उसका त्याग कर देना चाहिए।

से मेहावी अभिणिवट्टेज्जा कोहं च माणं च मायं च लोहं च पेज्जं च

दोसं च मोहं च गब्भं च जम्मं च मारं च णरयं च तिरियं च दुक्खं च। आचारांग कहता है मेधावी क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम, द्वेष, मोह, गर्भ, जन्म मरण, नरक, तिर्यंच और दु:ख को वापस लौटा दे, यह महावीर का दर्शन है। जो कषायों को जीतेगा वही मोहनीय को जीतेगा, जो मोहनीय को जीतेगा वही सकल कर्मों पर विजय प्राप्त करेगा। जो कर्मों को नाश करने की शक्ति से सम्पन्न है वह चौथे से चौहदवें गुणस्थान तक जाता है। अनन्तानुबन्धी चतुष्क और दर्शन मोहनीय कर्म का नाश कर क्षायिक समकित प्राप्त कर शेष सभी कर्मों का भी नाश कर देता है।

'लोगं च आणाए अभिसमेच्चा अकुतोभयं, अत्थि सत्थं परेणं परं, नत्थि असत्थं परेणं परं।' जो पुरुष आगम-आज्ञा से कषायलोक को जानकर अकुतोभय हो जाता है, उसे किसी भी दिशा से भय नहीं होता है।

शस्त्रों में उत्तरोत्तर तीक्ष्णता मिलती है। वैसी तीक्ष्णता अशस्त्र में नहीं होती। अशस्त्र है-संयम, मैत्री, क्षमा, कषाय-क्षय, अप्रमाद आदि। कषायों और द्वेष में उत्तरोत्तर तीव्रता होती है। पर अशस्त्र में समभाव होता है। एक के प्रति मन्द और दूसरे के प्रति तीव्र नहीं होता।

जो आत्मा में श्रद्धा करता है, देह में रहते हुए विदेह होता है, उसे लोक की जानकारी होने के साथ ही संसार के उसके सारे दाँव पेंच समाप्त हो जाते हैं। ना द्वन्द्व शेष रहता है ना आशंका। उसे शास्त्रकारों ने अकुतोभयं कहा है।

भय क्या है? शंका व अपेक्षा है तब तक ही भय है। जब रेल के जनरल डिब्बे में बैठते हैं वहाँ सबको सब कुछ चाहिए, हर आदमी डिब्बे में पहले घुसना चाहता है और सिविक सेन्स का ऐसा अभाव ही झगड़े की जड़ है। वरना सूत्र के अनुसार 'लोगं च आणाए' लोक आज्ञा में इन ऑर्डर ही है। सही समय पर सही स्थान जो रिजर्वेशन कोच में उसके लिए नियत है उसे स्वत: प्राप्त हो जायेगा। अर्थात् स्वकृत कर्म के अनुसार ही सबके उदय में अच्छा या बुरा मिलने वाला है। इसलिए साधक अगर आज्ञा में रहे तो यह लोक अकुतोभय है। अभय है। अभय को शस्त्रों की आवश्यकता नहीं होती। महावीर कभी शस्त्र नहीं रखते। 'णमो जिणाणं जियभयाणं।'

'भय' मोहनीय कर्म की प्रकृति है। इसलिए 'मैं', 'मेरा' ये सारा भय जीतने वाला साधक मोहनीय को जीत लेता है और गुणस्थान आरोहण के साथ पहले शेष घाति और फिर केवली पर्याय पूर्ण करके अघाति को भी क्षयकर निरंजन, निराबाध, निराकार, निर्वाण को साध लेता है।

जीवन जीने के तीन तरीके हैं-निर्वाह, निर्माण और निर्वाण। जीवन-निर्वाह पशु भी कर लेते हैं। समझ का स्तर विकसित होता है तो जीवन-निर्माण की प्रक्रिया शुरु होती है। प्रभुवाणी 'आचारांग' निर्वाण की साधना के लिए साधक को 'लोक-विजय' और 'लोक-विचय' के उपाय देती है। कर्मबन्ध से विरत होने पर प्रकाश डालती है। कर्मबन्ध है अर्थात् गर्भ है। 'गर्भ है' का अर्थ है कि फिर पुनर्जन्म है। नरक है, तिर्यञ्च है, भटकन है, त्रास है, पीड़ा है। इन सबसे विजय प्राप्त करके आनन्द प्राप्त करने के लिए कर्त्ताभाव को मन से हटाकर मात्र ज्ञाताद्रष्टा बनना होगा तभी सम्यग्दृष्टि बन पायेंगे। सम्यग्दृष्टि को कोई पीड़ा नहीं होती। वैसे भी दृष्टि अर्थात् नजर बदलने से नजारे बदल जाते हैं। समदर्शी के लिए हर प्राणी आत्म-स्वरूप है तो स्वत: ही लोक-विजय सध जायेगा।

'आचाराङ्ग' जाग्रत जीवन का सूत्र है। अध्यात्म की अनूठी निधि में आचाराङ्गसूत्र की प्रेरणा है, 'मनुष्य! तू ही तेरा मित्र है। तू अपनी मानसिक विषमता के साथ युद्ध कर। बन्ध (अशान्ति) और मोक्ष (शान्ति) दोनों तेरे मन में ही है। धर्म न सम्प्रदाय में है, न क्रियाकाण्ड में है, वह एक आन्तरिक रूपान्तरण है आचारांग के स्वाध्याय के साथ ये स्फुरणा जागती है-मैं ज्ञाताद्रष्टा आत्मा हूँ। सदा आनन्द में रहना मेरा स्वरूप है, मुझमें दु:ख नहीं है। मुझमें सुख निहित है और वही सुख मैं जीवराशि को देना चाहता हूँ।

'पुद्गल की ममता ने मुझको डाला गर्भावास।
अस्थि मांसमय अशुचि देह में मेरा हुआ निवास।
मेरे अन्तर भया प्रकाश, नहीं अब मुझे किसी की आस।।'

(महामहिम आचार्य भगवन्त श्री हस्तीमलजी म.सा.)

जल्दी कर्म काँटे और फिर गर्भ में ना आये। ये महावीर का दर्शन है।

परिहरिअ रज्जसारो, उप्पाडिअ संजमिक्क गुरुभारो।
खद्याउ देवदूसं, वीअरंतो, जयउ वीरजिणो।।

व्याख्याकार कहते हैं-जय विजय हो उत्तम राज्य के त्यागी उन श्रमण भगवान महावीर स्वामी की जिन्होंने अपने कन्धे से एकमात्र वस्त्र देवदूष्य का भी दान कर दिया।

उस महावीर की वाणी आचारांग सूत्र का आचरण करने का हम प्रयास करें। दुर्लभ मानव-भव में जीवन को मृत्यु के स्वागत के थाल की तरह सजायें। साधना मार्ग पर आगे बढ़ें। लक्ष्य को साधें।

आचाराङ्गसूत्र में हिंसा-अहिंसा का विवेक

-डॉ. आभाकिरण गाँधी, चित्तौड़गढ़

आचाराङ्गसूत्र साधक का हृदय स्थल है। जो कर्म हृदय से होता है वह सत्य सम्यक् सारभूत तथ्य को लिये हुए विवेक की कसौटी पर कसा हुआ होता है। 32 आगम में आचाराङ्गसूत्र प्रथम आगम है, इस आगम में साधक को छोटे-छोटे सूत्रों के माध्यम से सम्बोधित किया गया है। साधक, सम्बोधन को सुनकर हृदयस्थ करके हिंसा को छोड़े तथा माँ भगवती देवी अहिंसा की आराधना करते हुए अपने लक्ष्य की ओर गति करे। विषय के शब्दों पर ध्यान दें तो अर्थ निकलता है-

आ-आत्मा, **चा**-चारित्र में रमण करते हुए, **रां**-रोम-रोम से, **ग**-गुणों को ग्रहण करते हुए, **सू**-सुखपूर्वक जीता है, **त्र**-त्रास को अर्थात् दु:ख को प्राप्त नहीं होता है, **में**-मेरा-मेरा करते हुए, **हिं**-हित-अहित का विवेक रखकर, **सा**-साध्य का, **अ**-अन्तर मन से स्मरण करे, लक्ष्य को, **हिं**-हितकर जाने, **सा**-साधना के मार्ग में, **का**-कार्य में, **वि**-विचार में, **वे**-वेग खत्म होते हैं, ऐसा समझकर, **क**-कल्पना रहित होकर निर्विकल्पता की ओर गति करे।

संसार के सभी जीव सुख चाहते हैं, दु:ख कोई भी नहीं चाहता है। सुख अन्तर से मिलता है, बाहर से नहीं। जब अन्तर में रमण होता है, तब हिंसा स्वत: ही छूट जाती है, छोड़नी नहीं पड़ती। हिंसा हृदय की विकृति है, अहिंसा हृदय की स्वीकृति है, साधक जब विकृति में रहता है, तब दु:ख संक्लेश परिताप आदि सहन करता है। इसी वेदना (दु:ख) से रहित होने का सुन्दर मार्ग आचारांग सूत्र हमें देता है।

हिंसा का स्वरूप

हिंसा हृदय की कुटिलता है, स्वभाव की है विस्मृतता।
इससे अलग होकर जो जीता, वह पाता आचरण की शुद्धता।।

प्रभु महावीर इस संसार की विरल विभूति थे, उन्होंने भव्यों को सम्यक् बोध देकर सत्य का पथ आलोकित किया, जीव अजीव का सम्यक् बोध कराया। जब तक जीव बोधिलाभ को प्राप्त नहीं करता, तब तक हिंसा-अहिंसा के स्वरूप को समझ नहीं पाता। आत्मबोध होने पर ही अहिंसा में दृढ़ आस्था होती है। आत्मवादी ही अहिंसा का सम्यक् पालन कर सकता है।

आचाराङ्गसूत्र प्रथम अध्ययन के प्रथम उद्देशक का 9वाँ सूत्र '**जस्सेते लोगंसि**

कम्मसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णाय कम्मे' अर्थात् लोक में ये जो कर्म समारम्भ = हिंसा के हेतु हैं, इन्हें जो जान लेता है और त्याग देता है, वही परिज्ञातकर्मा मुनि होता है।

हिंसा दाहकारी है, जीव को कर्मों से आबद्ध कराने वाली है, भव-भ्रमण बढ़ाने वाली है, हिंसा के स्वरूप को जो समझ लेता है, वह प्रत्येक कार्य को विवेकपूर्वक यतना से करता है।

प्रत्येक कार्य में विवेक रखें

जब तक जीवन है तब तक साधक को अपनी दैनिक चर्या करनी होती है, उस चर्या को विवेकपूर्वक सावधानी से करने का उपदेश प्रभु ने फरमाया है। पूरा ब्रह्माण्ड जीवों से भरा हुआ है। उन जीवों की दया करना स्वदया है। उनकी विराधना करना स्वविराधना है। 5 स्थावर काय जीव-पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, ये जीव हलन-चलन नहीं करते हैं। लेकिन उन जीवों को भी हमारे जैसी वेदना होती है। उन जीवों की चेतना अव्यक्त है, वे अनुभव तो करते हैं परन्तु वेदना को व्यक्त नहीं कर सकते। हमें जीव विराधना से बचना है-

हिंसा दु:ख की बेल है, राग-द्वेष को बढ़ाये।
जो इसका शरण लेवे तो, चौरासी के चक्कर खाये।।

हिंसा ग्रन्थि है

'एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए।' यह जीव-हिंसा ग्रन्थि है, यह मोह है, यह मृत्यु है और यही नरक है। ग्रन्थ के दो भेद हैं-(1) द्रव्य ग्रन्थ और (2) भाव ग्रन्थ।

द्रव्य ग्रन्थ 10 प्रकार का परिग्रह है-(1) क्षेत्र (2) वास्तु (3) धन (4) धान्य (5) संचय-तृण काष्ठादि (6) मित्र-ज्ञाति संयोग (7) यान-वाहन (8) शयनासन (9) दासी-दास और (10) कुप्य।

भाव ग्रन्थ के 14 भेद हैं-(1) क्रोध (2) मान (3) माया (4) लोभ (5) राग (6) द्वेष (7) मिथ्यात्व (8) वेद (9) अरति (10) रति (11) हास्य (12) शोक (13) भय और (14) जुगुप्सा।

प्रस्तुत सूत्र में हिंसा को ग्रन्थ या ग्रन्थि कहा है। आगमगत उक्त सभी अर्थ या भाव इस शब्द में ध्वनित होते हैं। ये सभी भाव हिंसा के मूल कारण ही नहीं बल्कि स्वयं भी हिंसा है। मनुष्य अपने जीवन में इन हेतुओं से हिंसा करता है।

(1) अपने इस जीवन के लिए (2) प्रशंसा, यश पाने के लिए (3) सम्मान

प्राप्ति के लिए (4) पूजा आदि के लिए (5) जन्म-सन्तान आदि के जन्म पर अथवा स्वयं के जन्म निमित्त से (6) मरण-मृत्यु सम्बन्धी कारणों व प्रसंगों पर (7) मुक्ति की प्रेरणा या लालसा से (जन्म-मरण से मुक्ति पाने की इच्छा से) (8) दु:ख के प्रतिकार हेतु-रोग, आतंक, उपद्रव आदि मिटाने के लिए। इन सभी हेतु को जानकर हिंसा का त्याग करें। हिंसा के स्वरूप को जानकर उन्हें त्यागने का संकल्प करें।

पाँच स्थावरकाय की वेदना का स्वरूप

जैसे कोई जन्मान्ध व्यक्ति जन्म से अन्धा, बधिर (बहरा), मूक (बोल नहीं सकता) है उसका कोई पुरुष छेदन-भेदन करे तो उस पीड़ा को न तो वाणी से व्यक्त कर सकता है, न त्रस्त होकर चल सकता है, न अन्य चेष्टा से पीड़ा व्यक्त कर सकता है। वैसे ही 5 स्थावर काय जीव जन्मान्ध व्यक्ति की तरह वाणी, चक्षु आदि के अभाव में पीड़ा का अनुभव करते हैं।

हिंसा पीड़ादायिनी, हिंसा पापकारिणी।
हिंसा अनर्थ की खान है, हिंसा से ही मिलता नरक का स्थान है।।

हिंसा को मृत्यु कहा, नरक कहा है। हिंसा बड़ी भयावह है, जीव को जन्म-जन्मान्तर तक भटकाने वाली है, इसके स्वरूप को समझ कर बुद्धिमान पुरुष इसका त्याग करते हैं, अहिंसा की आराधना करते हैं। ये ही पुरुष अव्याबाध सुख को प्राप्त करते हैं, जीवन को आनन्द से व्यतीत करते हैं।

अहिंसा का महत्त्व

अहिंसा साधना का प्रतीक है, अहिंसा आत्म प्रीति की सीख है।
अहिंसा प्राणीमात्र से प्रीत है, अहिंसा हृदय का संगीत है।।

अहिंसा हृदय की स्वीकृति है। इसी स्वीकृति को साधक अपने जीवन में स्थान देता है। द्रव्य व भाव दोनों प्रकार से हिंसा का त्याग करके अहिंसा की आराधना करता हुआ परम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करके अव्याबाध सुख में लीन हो जाता है।

अहिंसा विश्व की पुकार है, अहिंसा मैत्री का उपहार है, अहिंसा आनन्द का शृङ्गार है, अहिंसा अन्तर का प्यार है, अहिंसा आराधना का सार है, अहिंसा विकारों का परिहार है, अहिंसा आगम का प्रकार है, अहिंसा मन का उपचार है, अहिंसा साधक का आचार है, अहिंसा गुरुवर का प्रचार है, अहिंसा मुक्ति का द्वार है, अहिंसा स्नेह का सञ्चार है, अहिंसा प्रेम का अवतार है, अहिंसा हृदय का प्रसाद है, अहिंसा प्रभु वीर का सिद्धान्त है, अहिंसा अपरिग्रह की नाव है, अहिंसा आदर्शों का प्रभाव है, अहिंसा संस्कारों का सद्भाव है, अहिंसा भयभीतों का बचाव है।

'आभा' अहिंसा आराधना से, छूटे मोह ममत्व का ताला, हो जीवन में उजाला।

आचाराङ्गसूत्र में पर्यावरण सुरक्षा

-श्री अलंकार जैन, जबलपुर

सामान्य जनमानस पर्यावरण का सम्बन्ध प्राय: मात्र वनस्पति से लगाता है, परन्तु पर्यावरणविद् पृथ्वी, पानी, वायु, वनस्पति आदि जीव तथा ध्वनि, आकाश, रेडियेशन आदि अजीवों को भी पर्यावरण का अङ्ग मानते हैं। जैनागमों में जीव रक्षा को प्रधानता दी गई है तो अजीव के प्रति भी उपेक्षा भाव नहीं रखने का सन्देश भी दिया है।

आचाराङ्गसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन में पृथ्वीकाय आदि की रक्षा करने की प्रेरणा को शस्त्र परिज्ञा के माध्यम से बताया है, जिसमें दूसरे उद्देशक में **से बेमि–अप्पेगे अंधमब्भे, ·····अप्पेगे उद्दवए।** पृथ्वीकाय के जीवों को कैसी वेदना होती है वह इस सूत्र के माध्यम से विस्तार से बताया गया है कि उनको अव्यक्त वेदना होती है। वहीं आगे कहा गया कि **'तं परिण्णाय मेहावी ·····त्ति बेमि।'** अर्थात् बुद्धिमान पुरुष पृथ्वीकाय के आरम्भ से दूर रहे। प्रथम अध्ययन के तीसरे उद्देशक में अप्काय की हिंसा से बचने की प्रेरणा की गई है। **'तं से अहियाए तं से अबोहिए'** अर्थात् यह अप्काय की हिंसा व्यक्ति के अहित और अबोधि का कारण है।

प्रथम अध्ययन के 5वें उद्देशक में मनुष्य और वनस्पति में समानता बताई गई है। प्रथम अध्ययन के 7वें उद्देशक में उल्लेख है कि वायुकाय की हिंसा करने वाला प्राय: अन्य काय की हिंसा का भी दोषी है क्योंकि सभी जीव परस्पर एक दूसरे के सहयोग के कारण ही जीवन यापन करते हैं। 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' सूत्र से भी इसकी पुष्टि होती है।

श्रावक का जीवन अनेकानेक कंटकों से भरा होता है, वह सामान्य गृहस्थ और संत की मध्य की कड़ी है। श्रावक को अपने सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और आध्यात्मिक जीवन को इस प्रकार सामञ्जस्य बनाकर चलना होता है कि उसका आध्यात्मिक जीवन सुरक्षित रह सके। हालांकि आचाराङ्गसूत्र साध्वाचार का वर्णन करता है, तथापि श्रावक का दूसरा मनोरथ महाव्रतों को अङ्गीकार करना ही है, इसलिये श्रावक को साध्वाचार का ज्ञान और अभ्यास दोनों होना आवश्यक है।

वर्तमान पृष्ठभूमि पर ही श्रावक मापदण्डों पर खरा नहीं उतरेगा तो अगले मनोरथों को कैसे सिद्ध कर पायेगा?

भगवान के बताये अनुसार श्रावक का आचरण सदाचार पूर्ण और अल्प आरम्भ वाला होता है, जो अल्पारम्भ वाला जीवन व्यतीत करता है वह ही श्रावक की श्रेणी में आता है। इस कथन के अनुसार हमें अपना अवलोकन करना चाहिये कि क्या हम अल्पारम्भी हैं ? या महाआरम्भ करते हैं ? यदि हम अल्पारम्भी हैं या होना चाहते हैं तब हम साधना के पथ पर आगे बढ़ने के योग्य हैं, श्रावक को अपनी जीवनशैली का अवलोकन करना चाहिये कि क्या मैं निम्न बातों का विवेक रखता हूँ।

1. श्रावक को प्रतिदिन सामायिक के साथ-साथ स्वाध्याय करते रहना चाहिये, जिससे की श्रावक ने जो अपने गुरु भगवन्तों से जीवादि का ज्ञान प्राप्त किया है वह सुरक्षित रहे तब ही वह पर्यावरण का रक्षक रह पायेगा।
2. सभी को ज्ञात है कि प्राकृतिक संशाधन सीमित हैं और उनका दोहन तेजी से हो रहा है तथा जो जीवन शैली भगवान द्वारा अल्पारम्भपूर्वक बताई है, वह चलन और प्रचलन में आ जाये, हम सीमित साधनों के उपयोग से जीवन व्यतीत करने लग जायें तो जीव हिंसा से तो बचेंगे ही साथ ही साथ हम पर्यावरण के रक्षक स्वत: ही बन जायेंगे। प्रथम श्रुत स्कन्ध के दूसरे अध्ययन के उद्देशक 4 में **'इणमेव णावबुज्झंति, जे जणा मोहपाउडा।'** जो लोग मोह से आवृत्त हैं वे इस तथ्य को नहीं जानते हैं कि पौद्गलिक साधनों से कभी सुख मिलता है या नहीं, इसलिये श्रावक को यह जानकर संसाधनों के उपयोग में मर्यादा का विवेक रखना चाहिये।
3. आज कल डिस्पोजल/डिस्पोजेबल सामग्री का उपयोग अत्यधिक बढ़ गया है, इसके पीछे प्रारम्भ से ही ये तर्क रहा है कि इस सामग्रियों के उपयोग करने से उपधि (बर्तन, कपड़ा आदि सामान) को बारबार धोने में पानी की बर्बादी होती है जिसको रोका जायेगा, परन्तु इस डिस्पोजल/डिस्पोजेबल वस्तुओं को तैयार करने के लिये जिन वस्तुओं का उपयोग किया जाता है, वो पर्यावरण को क्षति पहुँचा कर ही बनाई जाती है। उपयोग के बाद भी ये वस्तुएँ पर्यावरण के लिए घातक सिद्ध होती हैं। जैसे टीश्यु पेपर, इसको बनाने में पूरे साल में लाखों पेड़ काटे जाते हैं। शैम्पू, तेल, गुटखे, पैकेज्डफुड के पैकेट

और पन्नियाँ पैट्रोनियम पदार्थों से बनती हैं और इनके उपयोग के बाद आसानी से नष्ट न होने के कारण मिट्टी और जल स्रोतों को दूषित करती हैं। समुद्र में जाती हैं तो जलीय जीवों की मौत का कारण बनती है, जमीन पर होती है तो जानवरों के खाने में आने से उनके लिये कष्टदायक होती हैं, इसलिये इनके उपयोग से बचने का प्रयास करना चाहिये।

4. हम अपने दैनिक जीवन में जिन वस्तुओं का उपयोग करते हैं उनके बारे में पूर्ण जानकारी प्राप्त करके उपयोग करना चाहिये, क्योंकि हो सकता है कि जो-जो वस्तु हम उपयोग कर रहे हैं वह पेड़ों को काट कर बनाई गई हों, पृथ्वी-पानी आदि को नुकसान पहुँचाती हों, क्योंकि पेड़ लगाने से ज्यादा श्रेष्ठ कार्य तो ये है कि पुराने पेड़ों को नष्ट होने तथा काटने से बचाया जाये, ये पेड़ लगाने से 100 गुणा अधिक प्रभावशाली है।

5. लोग कहते हैं कृषि करके हम पर्यावरण की रक्षा करते हैं, पर वास्तव में खेती करना पर्यावरण रक्षा नहीं है, क्योंकि इसमें पेड़ लगाये और उपयोग के बाद उखाड़ दिये जाते हैं तथा हम यदि जैविक खेती न करके रासायनिक खेती करते हैं तो हम अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारते हैं, क्योंकि इसमें अनेकानेक जीवों की घात होती है।

6. ये सर्वविदित है कि बिजली कैसे बनती है, पैट्रोलियम पदार्थ कैसे और कहाँ से आते हैं तथा उनका कैसे उपयोग किया जाता है और इनका अल्प उपयोग किया जाये तो पर्यावरण की रक्षा हो सकती है।

7. पानी की बरबादी को रोकने के लिये अनेक उपाय हैं-1. आजकल ऑटोमेटिक वाशिंग मशीनें आ गई हैं, जिनमें पानी की अधिक से अधिक बारबादी होती है, तो इस तरह की मशीनों का उपयोग करने से बचना चाहिये। 2. आर ओ से पीने योग्य पानी तो कम निकलता है और व्यर्थ बहुत अधिक बह जाता है तो कुछ ऐसा उपाय करना चाहिये की बहने वाला पानी किसी दूसरे काम में उपयोग कर लिया जाये। 3. वाहनों को धोने में लोग सैकड़ों लीटर पानी बहाते हैं यदि विवेक रखें तो कम पानी से भी वाहन धुल सकते हैं। 4. बर्तन यदि वाशिंग पाउडर आदि से साफ न किये जाये तो उस पानी को निथरने के बाद दूसरे उपयोग में भी लाया जा सकता है। 5. पानी के सम्बन्ध में एक

ज्योतिष के ज्ञाता मित्र से चर्चा हुई तो उसने बताया कि, पानी का सन्बन्ध चन्द्रमा से होता है। इस जानकारी से यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि हम पानी को अधिक बरबाद करते हैं तो कुण्डली में चन्द्रमा की स्थिति बिगड़ने से जो परेशानियाँ आ सकती हैं वो टाली जा सकती हैं, यदि हम पानी का अपव्यय नहीं करते हैं।

श्रावक का जीवन जीने वाला हर व्यक्ति पर्यावरण मित्र होता है। सुरक्षित पर्यावरण है तो जीवन है, इसलिये हमें ये प्रयास करते रहना चाहिये कि हम पर्यावरण हानि पहुँचाने वाले न बनें, बल्कि पर्यावरण के सुधारक बनें। पर्यावरण का अर्थ ही बचपन से पढ़ाया गया है परि + आवरण, जिसने हमें चारों ओर से घेर रखा है वह पर्यावरण ही है, हमारा लक्ष्य ही ये होना चाहिये कि हम अपने चारों ओर से सुरक्षित रहें। आचराङ्गसूत्र प्रथम श्रुत स्कन्ध चौथा अध्ययन, दूसरा उद्देशक में लेख है कि यदि विवेकपूर्वक कार्य करते हैं तो जो आस्रव के द्वारा हैं वो संवर के मार्ग बन जाते हैं और विवेक शून्य होकर कार्य करते हैं तो संवर का मार्ग भी आस्रव का कारण बन जाता है।

इस प्रकार विवेकशील होकर आचाराङ्गसूत्र के पर्यावरण रक्षक सूत्रों को अपनाकर पर्यावरण रक्षक बनें।

जय गुरु हस्ती-हीरा **श्री महावीराय नमः** **जय गुरु महेन्द्र-मान**

श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ

ये छोटा सा संसार, गलतियाँ अपार,
आपके पास है, क्षमा का अधिकार,
कर लीजिये निवेदन स्वीकार, खमावाँ बारम्बार।

चंचलमल चोरड़िया निदेशक	सुभाष हुण्डीवाल संयोजक	पदमचन्द गोटेवाला सह-संयोजक
सौ. मंगला चोरड़िया सह-संयोजक	सुनील संकलेचा सचिव	चंचलमल गिड़िया कोषाध्यक्ष
जिनेन्द्र जैन सह-सचिव	प्रकाशचन्द जैन सम्पादक-स्वाध्याय शिक्षा	धर्मचन्द जैन शिविर संयोजक
प्रकाश सालेचा पर्युषण संयोजक	सुशीला गुलेच्छा प्रचार-प्रसार संयोजक	

श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ, जोधपुर एवं समस्त सदस्य

आदर्श जीवन-पद्धति आचाराङ्गसूत्र के परिप्रेक्ष्य में

-त्रिलोकचन्द जैन, जयपुर

जीवन के इस घेरे में, धूप-छाँव के डेरे में।
पलभर की मुस्कान मिले तो ना छोड़ूँ।।
भले समन्दर गहरे में, या फिर रेत के ढेरे में।
मृगतृष्णा का पान मिले तो ना छोड़ूँ।। पलभर की...
भाँत-भाँत के चेहरे में, इतने स्वप्न सुनहरे में।
इक मन का मेहमान मिले तो ना छोड़ूँ।। पलभर की...
इस गरीब के डेरे में, या उस अमीर के पहरे में।
छुपा हुआ भगवान मिले तो ना छोड़ूँ।। पलभर की...

कवि पण्डित विश्वैश्वर शर्मा के गीत की पंक्तियाँ जीवन का अर्थ बताने वाली हैं। यह जीवन धूप-छाँव रूपी दु:ख-सुख का अनवरत प्रवाह है। इस प्रवाह में भी जीवन को जिन्दादिली से व्यतीत करना ही वास्तव में जीना है, वरना शेष तो कलेण्डर की तारिखें मात्र हैं। जीवन तो प्रत्येक व्यक्ति जी रहा है, परन्तु जीवन जीने की कला विरले व्यक्ति ही जानते हैं। ये विरले व्यक्ति ही अपने जीवन को प्रेरणादायी बनाकर अनेकों के पथ-प्रदर्शक बन जाते हैं। ऐसे प्रेरणादायी जीवन के धारक ही स्वयं शान्ति प्रदायक अनेक गुणों से आप्लावित होकर अपना आदर्श व्यक्तित्व समाज के समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

इस प्रकार आदर्श जीवन जीने वाले किस प्रकार अपने जीवन की दशा और दिशा के माध्यम से प्रेरणा देते हैं? जीवन जीने की कौनसी विधि से अपने जीवन को व्यवस्थित जीते हैं? अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में उनका क्या आचरण रहता है? ऐसे अनेक प्रश्नों का समाधान लिये हुए जीवन-पद्धति का आचाराङ्गसूत्र के परिप्रेक्ष्य में विवेचन करते हैं।

आचाराङ्गसूत्र अनेक रत्नों का पिटारा है, जिनसे जीवन को आदर्श बनाया जा सकता है। आचाराङ्गसूत्र के अनेक प्रेरक सूत्रों में से कतिपय सूत्र लेकर जीवन पद्धति का निरूपण करने का प्रयास है। वैसे तो आचाराङ्गसूत्र में प्रत्येक अध्ययन में अनेक

जीवन निर्माण के सूत्र हैं, लेकिन संक्षिप्त में अध्ययनों से अनमोल सूत्र ग्रहण कर आदर्श जीवन पद्धति के लिए आवश्यक गुणों का विवेचन करते हैं।

(1) परिज्ञावान–परिष्कृत तथा प्रशस्त ज्ञान को परिज्ञा कहते हैं। परिज्ञा दो प्रकार की है–ज्ञ–परिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा। ज्ञ–परिज्ञा ज्ञान प्रधान है और प्रत्याख्यान परिज्ञा त्याग प्रधान है। ज्ञ–परिज्ञा से जीव समझ प्राप्त करता है तथा प्रत्याख्यान परिज्ञा से अनाचरणीय क्रियाओं का त्याग करता है।[1] इस परिज्ञा का उपदेश भगवान ने आचाराङ्गसूत्र के प्रथम अध्ययन में दिया है। परिज्ञा का लक्ष्य है अपनी जीवन पद्धति में अपने आपको असत् पथ से हटाकर सत्पथ पर नियोजित करना है। आचाराङ्गसूत्र का प्रथम अध्ययन हमें परिज्ञा रूपी औषध प्रदान करता है जो हमारी जीवन पद्धति में आये विक्षेप रूपी रोग का निवारण करने में सहायक है। जीवन की अनेक समस्याओं के निराकरण में परिज्ञा महत्त्वपूर्ण कार्य करती है।

जीवन के सम्यक् संचालन के लिए समझदार होना बहुत जरुरी है। समझदार होना अर्थात् परिज्ञावान होना। जब व्यक्ति समझदार होता है तो उसको समस्याओं के समाधान प्राप्त होते रहते हैं। सच्ची समझ अर्थात् परिज्ञा स्वयं के लिए क्या हितकारी है और क्या अहितकारी है, इसका ज्ञान कराती है। यह परिज्ञा जीवन में प्रकाश स्तम्भ का कार्य करती है जिससे व्यक्ति को सही मार्ग का ज्ञान होता है।

परिज्ञावान–समझदार व्यक्ति जीवन में आयी प्रतिकूल परिस्थितियों से घबराता नहीं है, अपितु उन परिस्थितियों का उनके स्वभावानुसार समाधान करता है। (1) उपस्थित प्रतिकूल परिस्थितियों को बदला जा सकता हो तो उन्हें वह तत्काल सम्यक् उपाय द्वारा बदल देता है। (2) उपस्थित प्रतिकूल परिस्थितियों को यदि बदलना असम्भव हो तो उन्हें वह समतापूर्वक स्वीकार कर लेता है। (3) उपस्थित प्रतिकूल परिस्थितियाँ ऐसी हैं, जिन्हें बदला भी नहीं जा सकता है और स्वीकार भी नहीं किया जा सकता है, इस स्थिति में परिज्ञावान विवेकपूर्वक अध्यात्म के सहारे उस परिस्थिति से अलग हटने का प्रयास करता है। इस प्रकार समझदार व्यक्ति अपने जीवन में आयी प्रतिकूलताओं में अनूकूलता का सर्जन करने वाला होता है।

परिज्ञावान–समझदार बनने में उम्र आड़े नहीं आती है। वे एवन्तामुनि लघु उम्र में ही जान गये कि जो जन्मा है, उसको अवश्य मरना होगा और अपने–अपने कर्मानुसार विभिन्न योनियों में भटकना होगा। ज्ञ–परिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से संसार का परित्याग कर अध्यात्म मार्ग पर बढ़ गये। *इस प्रकार इस मतलबी दुनिया से अपना मतलब निकालते रहना बहुत बड़ी समझदारी नहीं है। समझदारी तो मतलबी दुनिया से मतलब ही नहीं रखकर जीवन को आदर्श बनाने की तलब रखना है।*

(2) समयज्ञ–समय को जानने वाला पण्डित कहलाता है।[2] पण्डित को ज्ञानवान, विवेकवान कहा जाता है, परन्तु आचाराङ्गसूत्र समय की कीमत समझने वाले को पण्डित कह रहा है। जीवन निर्वाह एवं जीवन निर्माण में समय के सदुपयोग का विशेष महत्त्व है। समयानुकूल आचरण करना, समय को सार्थक करना, समय पर विजय प्राप्त करना ये सब समयज्ञता के विभाग हैं। जीवन में समयज्ञता का गुण जीवन जीने की कला में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। जो समयज्ञ होता है वह वर्तमान में जीता है, वर्तमान को निर्दोष रखने का प्रयास करता है।

समयज्ञ व्यक्ति भूतकाल के सपनों में तथा भविष्य की कल्पनाओं में समय बर्बाद नहीं करके वर्तमान में जीता है। समयज्ञ व्यक्ति प्रतिपल पुरुषार्थी होता है, लक्ष्य प्राप्ति से पूर्व विश्राम नहीं करता है। उसे जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए समय कम लगता है, इस कारण वह प्रत्येक क्षण को सार्थक करता है।

जिसने जाना समय का मूल्य आगे वह बढ़ पाया है।
अलसाकर जो बैठ गया, वह जीवनभर पछताया है।।
धीरे-धीरे चलकर कछुआ, जीत दौड़ में जाता है।
एक-एक तिनके से पंछी, अपना नीड़ बनाता है।।
लेकिन अपने रहने को घर बन्दर बना न पाया है।
जब-जब भीगा वर्षा में वह, मन ही मन पछताया है।। जिसने जाना....
घूम धूरी पर धरती अपनी, दिन और रात बनाती है।
और लगा सूरज के चक्कर, ऋतुएँ जग में लाती है।।
धरती ने अपना अब तक, एक पल भी नहीं गँवाया है।
अलसाकर जो बैठ गया वह जीवनभर पछताया है।। जिसने जाना....

इस प्रकार जो करना है उसको तत्काल करने वाला समयज्ञ होता है। वह प्रत्येक कार्यों को उस कार्य की प्राथमिकता के आधार पर पूर्ण करता है। समयज्ञ प्रत्येक समय को सार्थक करता है क्योंकि यदि मृत्यु किसी भी समय आ जावे तो उसे स्वीकार करते हुए अफसोस न हो। मृत्यु के लिए तो कोई भी क्षण अनवसर नहीं है वो तो कभी भी आ सकती है।[3] वह प्रत्येक समय अप्रमत्त एवं प्रसन्न रहता है।

समय की अनेक विशेषताएँ हैं-(1) समय पुनः लौटकर नहीं आता है। इसलिए समयज्ञ वर्तमान समय को सार्थक करने वाला होता है। (2) समय को खरीदा नहीं जा सकता है। इसलिए समयज्ञ समय को सफल करता है, उसे समय के बीतने का अफसोस नहीं होता है। (3) समय रूकता नहीं है। इसलिए समयज्ञ समय के साथ

चलता है। (4) समय को कोई बढ़ा नहीं सकता है। इसलिए समयज्ञ वर्तमान समय को श्रेष्ठ जीता है, उसे अधिक समय की आवश्यकता नहीं है। (5) समय को इकट्ठा नहीं कर सकते हैं। इसलिए समयज्ञ समय को इकट्ठा करने पर नहीं, अपितु उसको प्रसन्नतापूर्वक जीने पर विश्वास करता है।

इस प्रकार जीवन पद्धति में समयज्ञता व्यक्ति के जीवन को श्रेष्ठ बना देती है। समयज्ञ को अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में पूर्व व्यतीत जीवन का अफसोस नहीं रहता है क्योंकि उसने जीवन को सार्थक किया हुआ होता है।

(3) निर्भयी–संसार के समस्त भयों का निरीक्षण जिसने कर लिया है, जो इहलोक आदि सात भयों का दृष्टा है। ऐसा दृष्टभय व्यक्ति ही निर्भयी बनकर प्रसन्नता से जीवन व्यतीत करता है। आचाराङ्गसूत्र का तृतीय अध्ययन मुनि के दृष्टभय गुण की व्याख्या करता है।[4] जिसने संसार के भय को समझ लिया है, वह ही निर्भयी बनकर सुखपूर्वक जीवन को जीने वाला होता है।

संसार में अधिकांश प्राणी भयाक्रान्त हैं। किसी को बलिष्ठ से भय तो किसी को दरिद्री का भय, किसी को धन के वियोग का भय तो किसी को दु:खों का भय लगा ही रहता है। अनेक भयों से सम्पन्न व्यक्ति अशान्त बना रहता है। प्रमादी (असत् आचरण करने वाला) और भोगी (विषयसुखों में अनुरक्त रहने वाला) पग-पग पर भयभीत रहता है। इसलिए कहा है-प्रमादी को सब ओर से भय रहता है जबकि अप्रमादी को नहीं।[5] इस प्रकार भयभीत रहा हुआ व्यक्ति जीवन के सच्चे सुख से कोसों दूर रहता है।

हमें बचपन से ही भय के संस्कार मिलते हैं जैसे-'बेटा सो जा नहीं तो भूत आ जायेगा', 'उधर जाओगे तो गिर पड़ोगे' आदि। इस प्रकार भय हमें प्रारम्भ से ही प्रभावित कर रहा है। इस कारण जीवन जीने का रसानुभव अधूरा रहता है। समवायांग सूत्र में वर्णित सात प्रकार का भय, 10 प्रकार की संज्ञाओं में भय संज्ञा, भय मोहनीय कर्म, ये सभी जीवन में भय संस्कारों के प्रतिपादक हैं। लेकिन इन भयों को जीतने के लिए निर्भयता को अपनाना होगा। निर्भयता सभी जीवों से मैत्री करने से, ज्ञातादृष्टा बनने से तथा सकारात्मक दृष्टिकोण से उत्पन्न होती है।

मैत्री भाव जगत् में मेरा, सब जीवों से नित्य रहे।
दीन-दु:खी जीवों पर मेरे, उर से करुणा स्रोत बहे।।

इस प्रकार निर्भयी बनकर जीवन जीने का आनन्द ही अलग होता है। जिसका कोई शत्रु ही न हो, उसे कैसा भय? जिसने झूठ का सहारा नहीं लिया हो, उसे कैसा

भय? जिसने ममता-आसक्ति का व्यापार नहीं किया हो, उसे कैसा भय? जो उच्च स्तरीय नजरिया रखता हो, उसे कैसा भय? बस यही निर्भयी बनने का मार्ग है, यही जीवन जीने की पद्धति है।

(4) लोकैषणा से अप्रभावित-यश, प्रभाव, सत्ता, नेतृत्त्व की चाह लोकैषणा है।[6] निश्चिन्त जीवन जीने में बाधक है लोकैषणा। लोकैषणा एक ऐसा विपरीत स्वभाव है जो भीतरी प्रसन्नता को समाप्त करती है। दूसरे शब्दों में दुनिया की अन्धी दौड़ का अनुसरण करना, दुनिया से प्रशंसा, सम्मान की चाहना होना लोकैषणा है। लोकैषणा में रत व्यक्ति बाहर की चकाचौंध को ही सब कुछ मानता है। यशकीर्ति के लिए ही क्रियाएँ करता है। वह सावद्य क्रियाओं से भी गुरेज नहीं करता, बस उसे तो दिखने का भाव ही प्रभावित करता रहता है। परन्तु जीवन जीने की कला सम्पन्न व्यक्ति लोकैषणा से विरत रहता है और जिसके लोकैषणा नहीं, उसके सावद्य प्रवृत्ति नहीं हो सकती है।[7] सावद्य प्रवृत्ति ही दु:ख का कारण है, तनाव का कारण है। जिसको सात्त्विक, निर्लिप्त एवं निर्दोष जीवन जीना है वह लोकैषणा से प्रभावित ही नहीं होता है।

अधिकांश सांसारिक लोग अनुस्रोत में यानी संसार प्रवाह में बह रहे हैं, अन्धी दौड़ के प्रतिभागी बन रहे हैं लेकिन जिसे श्रेष्ठ जीवन जीना है, निश्चिन्तता का जीवन जीना है वह प्रतिस्रोत में गति करके लक्ष्य प्राप्त करता है। विषयभोगों से विरक्त प्रतिस्रोतगामी ही जीवन के उच्च मापदण्ड निर्धारित करता है।[8] भावना प्रदर्शित करते हुए कहा भी है-

अनुस्रोत की लहर में, दिन-रात बह रहा हूँ।
दे दिव्य दृष्टि भगवन्, प्रतिस्रोत में लगा दो।।
वरदान माँगता हूँ, आगे मुझे बढ़ा दो।
शिव शिखर पे चढ़ा दो।।

शौहरत, औरत और दौलत, ये तीन मधुर विष हैं, जिनके पीछे पड़ा हुआ व्यक्ति अपने जीवन को पतन के मार्ग पर ले जाता है। शौहरत रूपी लोकैषणा जीवन में मधुर विष के समान है। आचाराङ्गसूत्र का चतुर्थ अध्ययन आदर्श जीवन के लिए लोकैषणा से अप्रभावित रहने की प्रभावी प्रेरणा प्रदान करता है।

(5) समतावान-समता और ममता, ये दो शब्द संसारस्थ जीवों के जीवन जीने के तरीकों का निर्धारण करते हैं। वस्तु, परिवार, पद, पैसा तथा प्रतिष्ठा से ममता रखने वाला समतावान नहीं होता है। क्योंकि जब तक ममता होती है तब तक

समता नहीं होती है।[9] ममकार भी समता प्राप्ति में बाधक हैं। निर्मम होने पर ही सम होना सम्भव है।[10] ममता प्रधान जीवन विषमता पूर्वक होता है तथा समता प्रधान जीवन सुखद, सहज होता है।

प्रभु वीर की समता आदर्श उदाहरण है। चण्डकौशिक के जहर का प्रतिकार समता रूपी दूध की धारा से दिया। चन्दनबाला की समता भी प्रेरक है। पिता-माता स्वर्ग सिधार गये, स्वयं को राजकुमारी होते हुए भी बाजार में बिकना पड़ा, पर वो आदर्श सती समतावान रहकर सभी प्रतिकूलता में धैर्यवान रही। अर्जुनमुनि जो कि माली था, उनकी समता उत्कृष्ट ही थी। गाली सहना, हीलना सहना, अनादर सहना, निन्दा सहना, तिरस्कार सहना, यहाँ तक की थप्पड़, ईंट, पत्थर, लाठी आदि भी सहना, क्या समता? क्या धैर्य? अद्‌भुत! मात्र 6 महिने में ही आत्म-कल्याण कर लिया। गजसुकुमाल की समता का तो क्या कहना? धधकते अंगारे सिर पर, फिर भी आत्मा में रमण कर समता धारण की और रंच मात्र भी सोमिल पर द्वेष नहीं किया। इसलिए तो आज नमो सिद्धाणं में स्थान प्राप्त हैं। ऐसे अनेक महापुरुष हुए हैं जिनकी समता के कारण उनका जीवन आज भी गाया जाता है। शास्त्रीय उदाहरण तो प्रेरणा लेने के लिए हैं, लेकिन संसारी जीवन में भी समता घर को स्वर्ग बनाने में महत्त्वपूर्ण है। जिस घर में समता का वातावरण हो, तो उस घर में बर्तन बजने की आवाज कभी नहीं आती है। समता जीवन का अमृत है।

एक दर्शनीय मन्दिर था। उसमें प्रतिष्ठापित एक प्रतिमा दिव्य तेज से चमक रही थी। श्रद्धालु नर-नारियों का समूह दर्शनार्थ उमड़ रहा था। घी के दीपक जल रहे थे। पूजा-आरती हो रही थी। चिन्तक के हृदय में एक प्रश्न उपस्थित हुआ-'प्रतिमा ने ऐसी कौनसी विशिष्ट साधना की? जो इसे इतनी पूजा प्राप्त हुई।' मौन स्वर में प्रतिमा का उत्तर था-साधना की नहीं, समभाव की साधना हुई। सिद्धहस्त मूर्तिकार के कुशल हाथों से मेरा सृजन हुआ। उसके नुकीले उपकरणों द्वारा पूरा शरीर टाँचा गया, खुरचा गया और छेदा गया। आँख और कान जैसे कोमल अङ्ग भी अछूते नहीं रहे। तिस पर भी मैंने न आहें भरीं, न आँसू बहाये। फरियाद करना तो दूर रही, कष्ट भी नहीं माना और न खण्डित हुई। बस यही समता की साधना हुई। उसी का परिणाम है-यह पूजा। पूजा मेरी नहीं, समभाव की है, सहनशीलता की है। समभाव पर भला कौन नहीं झुकता? सारी दुनियाँ फिदा है।

इसी समता को आर्यों पुरुषों ने धर्म कहा है।[11] जीवन तो परिवर्तनशील है। सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान, जय-पराजय, निन्दा-स्तुति, अनुकूल-प्रतिकूल, संयोग-वियोग आदि प्रत्येक घटना में सम रहना जीवन जीने की साधना

है। विचलित या मोहित न होना अर्थात् हर्ष, शोक, राग-द्वेष आदि से रहित रहना ही समतापूर्ण जीवन जीना है।

समतापूर्वक जीवन ही अचल जीवन होता है, वह जल्दी से प्रतिकूलता में विचलित नहीं होता है। विपरीत परिस्थितियों को समतापूर्वक सामना करके ही एक प्रेरक व्यक्तित्व का निर्माण होता है। उस प्रेरक व्यक्ति का जीवन सभी के लिए अनुमोदनीय, अनुकरणीय हो जाता है।

(6) आज्ञापालक–व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्रिय है, बन्धन अप्रिय है। लेकिन वर्तमान परिप्रेक्ष्य में विचार करें तो व्यक्ति को स्वच्छन्दता प्रिय होती जा रही है, इस कारण जीवन में अनेक समस्याएँ जन्म ले रही हैं। स्वतन्त्रता स्व-नियन्त्रण की अवस्था है जबकि स्वच्छन्दता इन्द्रिय और मन की गुलामी है। स्वतन्त्रता में मालिक बना जाता है जबकि स्वच्छन्दता में नौकर बना जाता है। स्वच्छन्दता में मनमानी, अनियन्त्रित इच्छाओं का जोर रहता है। कुसंस्कारों का प्रभाव मनमानी करवाता है और तनावयुक्त जीवन कर देता है। इसलिए जीवन का सम्यक् सञ्चालन करने हेतु स्वच्छन्दता का त्यागकर महापुरुषों की आज्ञा को शिरोधार्य करने की प्रेरणा आचाराङ्गसूत्र दे रहा है।

'आणाए मामगं धम्मं' आज्ञा ही मेरा धर्म है।[12] स्वच्छन्दता और तर्क बुद्धि मात्र जीवन में तनाव देती है। उम्र, पद एवं गुणों में ज्येष्ठ ही आज्ञा देने के पात्र हैं, उनकी आज्ञा जीवन की गाड़ी को सुगमता से पार लगा देती है। श्रेष्ठ पुरुषों के प्रति समर्पण उनकी आज्ञा पालकर ही होता है। आदर्श जीवन में आज्ञापालन विशेष महत्त्व रखता है। प्रभु महावीर की आज्ञा का पालन करके गौतम स्वामी लक्ष्य को पा गये। गुरु की आज्ञा पालने के लिए एकलव्य अपना हुनरमन्द अंगुष्ठ देने में भी नहीं हिचकिचाये। पिता की आज्ञा पालकर ही श्री राम मर्यादा पुरुषोत्तम राम कहलाये। माता की आज्ञा पालकर ही आर्यरक्षित दीक्षा लेकर, इतिहास में गाये गये। श्रवणकुमार माता-पिता की की इच्छापूर्ति के लिए ही उनको कावड़ बनाकर तीर्थयात्रा लेकर गये। ऐसे अनेक पुरुष हुए हैं जो आज्ञा पालन करके ही महापुरुष बने हैं। इनका जीवन आज्ञा पालन के गुण के कारण ही प्रेरक बना है।

जीवन जीने की कला प्रदर्शित करते हुए कहा है-

आणाए एगे सोवट्ठाणा, आणाए एगे निरुवट्ठाणा एयं ते मा होउ, एयं कुसलस्स दंसणं। –आचाराङ्गसूत्र 1/5/6/54

अनेक व्यक्ति अनाज्ञा में उद्यमी और आज्ञा में अनुद्यमी होते हैं। ऐसा नहीं करना ही कुशल पुरुषों का दर्शन है। तात्पर्य यह है कि श्रेष्ठ पुरुषों की आज्ञा से विपरीत कार्य करने वाले तथा श्रेष्ठ पुरुषों की आज्ञा में प्रमाद करने वाले जीवन को व्यर्थ ही गंवा देते हैं।

व्यवहार में भी देखने को मिलता है कि जो गुरुजनों, मात-पिता आदि की आज्ञा को शिरोधार्य नहीं करता उसको जीवन में अनेक ठोकरों का सामना करना पड़ता है। लोकोक्ति भी है-

नहीं माने बड़ा की सीख, ले कटोरो माँगे भीख।

इस प्रकार आचाराङ्गसूत्र में आज्ञापालक बनकर जीवन जीने की बात कही है, जो कि सुखमय जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इस प्रकार आचाराङ्गसूत्र एक आदर्श जीवन पद्धति हमारे समक्ष रखता है। यह एक आकर आगम है, इसमें और भी अनेक जीवन विकास के सूत्र हैं। लेकिन संक्षिप्त में जीने की सम्यक् कला के लिए कतिपय गुणों का वर्णन किया है। इन कतिपय गुणों को जीवन में आत्मसात् करके अपना जीवन समुज्ज्वल बनाया जा सकता है।

सन्दर्भ सूची

1. तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया। -आचाराङ्गसूत्र 1/1/1/8
2. खणं जाणाहि पंडिए। -आचाराङ्गसूत्र 1/2/1/22
3. नत्थि कालस्स नागमो। -आचाराङ्गसूत्र 1/2/3/44
4. से हु दिट्ठभए मुणी। -आचाराङ्गसूत्र 1/3/2/17
5. सव्वओ पमत्तस्स भयं, सव्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं। -आचाराङ्गसूत्र 1/3/4/43
6. मोक्ख पुरिसत्थो (आचार्य उमेशमुनि 'अणु') -बीयं अज्झयणं पृष्ठ 7
7. जस्स नत्थि इमा जाई अन्ना तस्स कओ सिया। -आचाराङ्गसूत्र 1/4/1/5
8. अणुसोय पट्ठिय बहुजणम्मि, पडिसोय लद्ध लक्खेणं।
   पडिसोयमेव अप्पा, दायव्वो होउ कामेणं।।
   -दशवैकालिकसूत्र अध्ययन 10, द्वितीय चूलिका गाथा 2
9. समया सव्वभूएसु, सत्तु मित्तेसु वा जगे।
   पाणाइवाय-विरई, जावज्जीवाए दुक्करं।। -उत्तराध्ययनसूत्र 19/26
10. निम्ममो निरहंकारो, निस्संगो चत्तगारवो।
    समो य सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य।। -उत्तराध्ययनसूत्र 19/90
11. समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए। -आचाराङ्गसूत्र 1/5/3/23
12. आणाए मामगं धम्मं। -आचाराङ्गसूत्र 1/6/2/22

बहुश्रुत स्वाध्यायी-(20)

इस अङ्क में से 10 प्रश्न पूछे जा रहे हैं, जिनके उत्तर आप **15 नवम्बर, 2021 तक सम्पादकीय सम्पर्क सूत्र के पते** पर प्रेषित करें। श्रेष्ठ उत्तरदाताओं में से लॉटरी द्वारा पाँच उत्तरदाताओं का चयन करके प्रत्येक को रुपये **200/-** के सम्मान पुरस्कार प्रदान किये जायेंगे। आवश्यक हो उतना ही उत्तर दें अन्यथा अंक काटे जायेंगे। -सम्पादक

1. किसको छोड़ने में ही समझदारी है ?
2. परतन्त्रता में अत्यन्त क्या है ?
3. छोटे मुनियों के लिए तो कौन धायमाता के समान हैं ?
4. जो मायावी होता है, वह बार-बार क्या करता है ?
5. पदार्थ रहस्य का परिपूर्ण ज्ञान कराने वाला कौन है ?
6. इन्सान का बेहतरीन गुण क्या है ?
7. आठों कर्मों का क्षय कर देना क्या कहलाता है ?
8. कषाय भाव किसका मूलाधार है ?
9. आसक्ति का केन्द्र बिन्दु क्या है ?
10. दु:ख को मिटाने के बजाय किसको मिटाना है ?

बनें बहुश्रुत स्वाध्यायी (18) के लॉटरी से चयनित श्रेष्ठ पाँच उत्तरदाता

सभी उत्तरदाता अपने बैंक खाते का विवरण मय आईएफसी कोड सहित उत्तरपत्र के साथ अवश्य भेजे। जिससे राशि आपके खाते में प्रेषित की जा सके।

(1) श्री सुगनचन्दजी छाजेड़, जोधपुर (राजस्थान)
(2) श्रीमती विमला. आर. सुराणा, जलगाँव (महाराष्ट्र)
(3) श्री प्रसन्नराजजी श्रीश्रीमाल, अहमदाबाद (गुजरात)
(4) सौ. सुरेखाजी वेदमुथा, शेदुर्णी, (महाराष्ट्र)
(5) डॉ. एन.जी. सेठिया, शिरपुर (महाराष्ट्र)

उत्तरमाला (18)-(1) सूत्रकृताङ्गसूत्र (2) सेवाधर्म (3) अलौकिक सुखोपलब्धि (4) ब्रह्मचर्य (5) रूप (6) कामवासना (7) अब्रह्म (8) धैर्य सम्पन्नता (9) शील (10) ब्रह्मचर्य व्रत।

श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ, जयपुर शाखा के स्वाध्यायियों की कार्यशाला का आयोजन

दिनांक 19 सितम्बर, 2021 को श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ, जोधपुर, श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ, जयपुर शाखा एवं श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संस्था, मानसरोवर, जयपुर के संयुक्त तत्त्वावधान में मधुर व्याख्यानी श्रद्धेय श्री गौतममुनिजी म.सा. के सानिध्य में एक दिवसीय कार्यशाला का आयोजन किया गया। यह कार्यशाला प्रातः 8:30 बजे से सायं 5:30 बजे तक चली। कार्यशाला में चार सत्र आयोजित किए गए। सबसे पहले प्रातः 8:30 बजे सभी स्वाध्यायी बन्धुओं ने श्रद्धेय श्री गौतममुनिजी म.सा., श्रद्धेय श्री अविनाशमुनिजी म.सा. के मुखारविन्द से जिनवाणी श्रवण का लाभ प्राप्त किया।

तत्पश्चात 11 बजे स्वाध्यायी कार्यशाला का प्रथम सत्र परिचय सत्र के रूप में प्रारम्भ किया गया। इस सत्र में उपस्थित सभी 55 स्वाध्यायी भाई-बहनों का आपस में परिचय करवाया गया। उपस्थित सभी सदस्यों ने अपना-अपना परिचय देकर पर्युषण सेवा में प्राप्त होने वाले खट्टे-मीठे अनुभवों से उपस्थित सभी सदस्यों को अवगत कराया। इस सत्र का संचालन युवा स्वाध्याय श्री मनोज कुमार जी जैन, पाटोली वाले, मानसरोवर ने किया। भोजन अवकाश उपरान्त द्वितीय सत्र अपराह्न 1:30 बजे प्रारम्भ किया गया। इस सत्र में श्री प्रकाशचन्दजी जैन 'प्राचार्य' का विशिष्ट वक्तव्य रखा गया। आचार्य हस्ती से हमें स्वाध्याय का विरुद पद मिला है। स्वाध्यायी में व्रत (आचरण) के साथ ज्ञानात्मक पक्ष भी मजबूत होना चाहिए। स्वाध्यायी में विषय विशेषज्ञता का गुण होना चाहिए। आगम हमारा संविधान है अतः उसके प्रति हमारे हृदय में निष्ठाभाव जागृत होना चाहिए। वक्ता का उद्देश्य अच्छी बातें नहीं अपितु सच्ची बातें कहने का होना चाहिए। आपने आगम में वर्णित आगम पढ़ने की पद्धतियों पर भी विशेष रूप से प्रकाश डाला। पूज्या महासती श्री दिव्यप्रभाजी म.सा. ने उपस्थित सभी स्वाध्यायी बन्धुओं को प्रेरणा प्रदान करते हुए कहा कि श्रोता श्रद्धा सम्पन्न हो और वक्ता क्रिया सम्पन्न होना चाहिए। आपने साधु व श्रावक के बीच की कड़ी में स्वाध्यायी को बताया। स्वाध्यायी साधु-सन्तों से वंचित क्षेत्रों में जाकर जिनवाणी की प्यास बुझाता है। आपने स्वाध्यायी के लिए आगमज्ञान व क्रियापालन होना आवश्यक बताया। आपने फ़रमाया कि आगमवाणी के स्वाध्याय के माध्यम से भव-भव की दरिद्रता को समाप्त किया जा सकता है।

तृतीय सत्र में श्रद्धेय श्री गौतममुनिजी म.सा. ने स्वाध्यायियों को प्रेरणा प्रदान करते हुए फरमाया कि स्वाध्याय संघ में गुरु हस्ती की आत्मा के दर्शन होते हैं।

स्वाध्यायी गुणग्राही व मोक्ष का राही होता है। स्वाध्याय संघ ने ही रत्नसंघ को बहुत बड़ी पहचान दी है। आपने उपस्थित स्वाध्यायियों को प्रेरित करते हुए कहा कि आपको गुरु हस्ती के इस प्रिय मिशन को आगे बढ़ाना है। घर-घर में स्वाध्याय की अलख जगाना है।

स्वाध्यायी कार्यशाला के अन्तिम सत्र में स्वाध्यायी सम्मान समारोह का आयोजन किया गया, जिसमें 20 वर्ष व उससे अधिक वर्षों तक पर्युषण सेवा देने वाले वरिष्ठ स्वाध्यायियों (1) श्री गौतमचन्दजी जैन (2) सौ. कान्ताजी जैन (3) श्रीमती लाडदेवीजी हीरावत (4) डॉ. पदमचन्दजी मुणोत (5) श्री प्रकाशचन्दजी जैन (6) श्रीमती शान्ताजी मोदी (7) श्री तेजराजजी भण्डारी (8) श्री धर्मेन्द्र कुमारजी जैन, जयपुर तथा (9) श्री धर्मचन्दजी जैन (कुस्तला) का शॉल, माला व स्मृति चिन्ह प्रदान कर स्वागत-सम्मान किया गया। कार्यक्रम की अध्यक्षता श्री प्रमोदजी महनोत, अध्यक्ष-श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ-जयपुर, मुख्य अतिथि-श्री आनन्दजी चौपड़ा, कार्याध्यक्ष-अखिल भारतीय श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ ने की।

कार्यक्रम में 15 वर्ष से अधिक की पर्युषण सेवा देने वाले युवा स्वाध्यायी बन्धु श्री त्रिलोकचन्दजी जैन, जयपुर का भी स्वागत अभिनन्दन किया गया तथा स्वाध्याय संघ जयपुर शाखा के संयोजक पद को सुशोभित करने वाले वरिष्ठ स्वाध्यायी बन्धुओं (1) श्री राजेन्द्र कुमारजी पटवा, (मरणोपरान्त) (2) श्री अशोक कुमारजी जैन, हरसाना वाले (3) श्री वीरेन्द्र कुमारजी जामड़ (4) श्री जम्बू कुमारजी जैन का भी शॉल, माला व स्मृति चिन्ह प्रदान कर स्वागत-सम्मान किया गया। श्री राजेन्द्र कुमार जी पटवा का सम्मान उनके सुपुत्र श्री रितुलजी पटवा ने ग्रहण किया। कार्यक्रम में श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ, जोधपुर के राष्ट्रीय संयोजक श्री सुभाषजी हुण्डीवाल, जोधपुर व सचिव श्री सुनील जी संकलेचा, जोधपुर ने स्वाध्याय संघ की गतिविधियों व स्वाध्याय निर्देशिका के प्रकाशन से सम्बन्धित जानकारी प्रदान की। डॉ. श्री धर्मचन्दजी जैन, सम्पादक-जिनवाणी ने स्वाध्याय की महत्ता विषय पर अपने विचारों से उपस्थित सभी सदस्यों को लाभान्वित करवाया। कार्यक्रम का संचालन श्री राजेन्द्र जी जैन राजा, मानसरोवर व श्री सुशील कुमारजी जैन, संयोजक-स्वाध्याय संघ जयपुर शाखा ने किया। इस अवसर पर श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संस्था, मानसरोवर के अध्यक्ष श्री ज्ञानचन्दजी दुनीवाल और मन्त्री श्री धर्मचन्दजी जैन (पाटौली) की भी समारोह में मञ्च पर गरिमामयी उपस्थित रही।

-सुशील कुमार जैन, संयोजक-स्वाध्याय संघ, जयपुर शाखा

श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ, जोधपुर के 240 स्वाध्यायियों द्वारा 105 क्षेत्रों में पर्युषण पर्वाराधना सम्पन्न

श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ, जोधपुर द्वारा विगत् 76 वर्षों से जैन सन्त-सतीयों के चातुर्मास से वञ्चित गाँव/नगरों में विद्वान् क्रियावान, योग्य एवं अनुभवी स्वाध्यायियों को भेज कर अष्ट दिवसीय पर्वाधिराज पर्युषण पर्व की साधना-आराधना का महान् रचनात्मक कार्य किया जा रहा है। इस वर्ष पर्युषण पर्व 04-11 सितम्बर, 2021 तक मनाया गया। पर्वाराधना में उत्तरप्रदेश, पश्चिम बंगाल, तमिलनाडू, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, गुजरात, राजस्थान में मेवाड़, मारवाड़, पोरवाल, पल्लीवाल आदि क्षेत्रों में विभिन्न छोटे-बड़े दूर एवं निकट के 105 क्षेत्रों में लगभग 245 स्वाध्यायियों ने अपनी उल्लेखनीय सेवाएँ प्रदान की। सभी स्थानों पर सामायिक, दया, संवर, उपवास, पौषध तथा छोटी-बड़ी अनेक तपस्याएँ सम्पन्न हुई। स्वाध्यायियों द्वारा सभी स्थानों पर ज्ञानवृद्धि हेतु शिविर तथा अन्य कार्यक्रमों के साथ ही विभिन्न प्रतियोगिताओं का भी आयोजन किया गया।

-सुभाष हुण्डीवाल, संयोजक

श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ को प्राप्त पर्युषण-2021 सहयोग

25000/-	पल्लीपेट	5100/-	हिण्डौन सिटी	5100/-	नादेड़
5100/-	प्रतापनगर, जयपुर	3100/-	नारनोल	3100/-	जालोर
3100/-	उमरगाँव	3100/-	आगोलाई	2100/-	अलीगढ़
2100/-	देवली	2000/-	मगरदा	1500/-	श्योरपुरकलाँ
1100/-	कुश्तला	1100/-	सुमेरगंज मण्डी		

श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ, जोधपुर को प्राप्त साभार

5000/- श्रीमती सरोज जी, श्री अजीतराज जी आशीष जी मेहता, जोधपुर।

3100/- श्रीमती शान्तिजी सुरेन्द्रजी मेहता, जोधपुर।

3000/- श्रीमती निर्मलादेवीजी मोहनराजजी मुथा, लासुर स्टेशन।

2500/- श्री ऋषभ जी जैन, जोधपुर।

2100/- श्री महावीर जी जैन, जोधपुर।

2100/- श्रीमती उषाजी शान्तिचन्दजी बोहरा, जोधपुर।

2100/- श्री नरेन्द्र जी मेहता, जोधपुर।

2000/- डॉ. एस.सी. सिंघवी, संदीप जी कुलदीप जी सिंघवी, जोधपुर।

2000/- डॉ. एस.सी. सिंघवी, आदित्य जी, दीवित, कविन सिंघवी, जोधपुर।

2000/- श्री किशोरमल जी छाजेड़, जोधपुर।

1100/- श्री हनुमानप्रसादजी, मुकेशकुमारजी, आनन्दजी जैन, इन्दौर, चि. चेतनजी जैन का शुभ विवाह सौ. सोनल जैन के साथ सम्पन्न होने पर।

1100/- श्रीमती सायरबाईजी जवाहरलालजी रांका, भडगाँव।

1100/- श्री ताराचन्दजी जैन, देवली, अपने 78वें जन्मदिवस के उपलक्ष्य में।

500/- श्री नेमीचन्दजी सिंघवी, जोधपुर।

विनम्र अनुरोध

आचार्य हस्ती दीक्षा शताब्दी वर्ष एवं श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ के हीरक जयन्ती वर्ष के अवसर पर स्वाध्याय संघ जोधपुर द्वारा विभिन्न कार्यक्रमों के अन्तर्गत सदस्य बनाए जा रहे हैं। स्वाध्याय संघ के उत्थान एवं विकास हेतु आप सभी का सहयोग अपेक्षित है। अत: आप सभी से निवेदन है कि आप सभी स्वाध्याय संघ के विभिन्न सदस्य बनकर स्वाध्याय संघ के संवर्धन एवं श्रुतसेवा में अपना महत्त्वपूर्ण सहयोग करके पुण्य के भागीदार बनें।

स्वाध्याय निधि संरक्षक : 1,00,000/- एक मुश्त, *शिक्षा निधि स्तम्भ :* 51,000/- एक मुश्त, *स्वाध्याय निधि पोषक :* 21,000/- एक मुश्त, *स्वाध्याय शिक्षा-द्विमासिक :* 1,00,000/- 6 अंक हेतु सौजन्य, *स्वाध्याय शिक्षा :* 21,000/- एक अंक हेतु सौजन्य, *वार्षिक सदस्यता :* 2,100/- वार्षिक, *अन्य सहयोग :* इच्छानुसार।

सहयोग राशि आप चैक/ड्राफ्ट द्वारा भी स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ, जोधपुर के नाम से भिजवायें अथवा पंजाब नेशनल बैंक, जोधपुर के ऑनलाइन बैंक खाता संख्या 00592010003010 IFSCC Code-PUNB0005910 में इस नाम से नकद अथवा ड्राफ्ट द्वारा जमा करवाये। स्वाध्याय संघ को दिया गया आर्थिक सहयोग आयकर अधिनियम की धारा 80जी के अन्तर्गत कर से मुक्त है।

श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ के विविध सेवा-सोपान

- पर्युषण सेवा
- स्वाध्याय शिक्षा (द्वैमासिक) का प्रकाशन
- प्रचार-प्रसार कार्यक्रम
- नये स्वाध्यायी तैयार करना
- समय - समय पर शिविर आयोजित करना
- स्वाध्यायियों को प्रशिक्षित करना।
- निर्व्यसनी सामायिक कार्यक्रम

BOOK PACKETS CONTAINING PERIODICALS Value of Periodical
From Rs. 1/- to Rs. 20/- For First 100 gms or part thereof Rs. 2/-

To,

If undelivered, please return to

श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ
(संचालक-गजेन्द्र निधि)
सामायिक स्वाध्याय भवन, प्लॉट नं. 2,
नेहरू पार्क, जोधपुर-342001 (राज.)
फोन 0291-2624891

स्वामी - श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ, जोधपुर
मुद्रक - डायमण्ड प्रिंटिंग प्रेस, जयपुर
प्रकाशक - सुभाष हुण्डीवाल, जोधपुर से प्रकाशित
सम्पादक - प्रकाशचन्द जैन